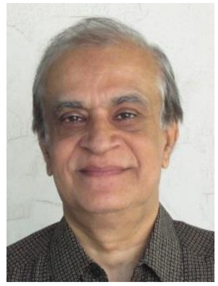

राजीव मल्होत्रा कृत

"विभिन्नता" का लघु – संस्करण

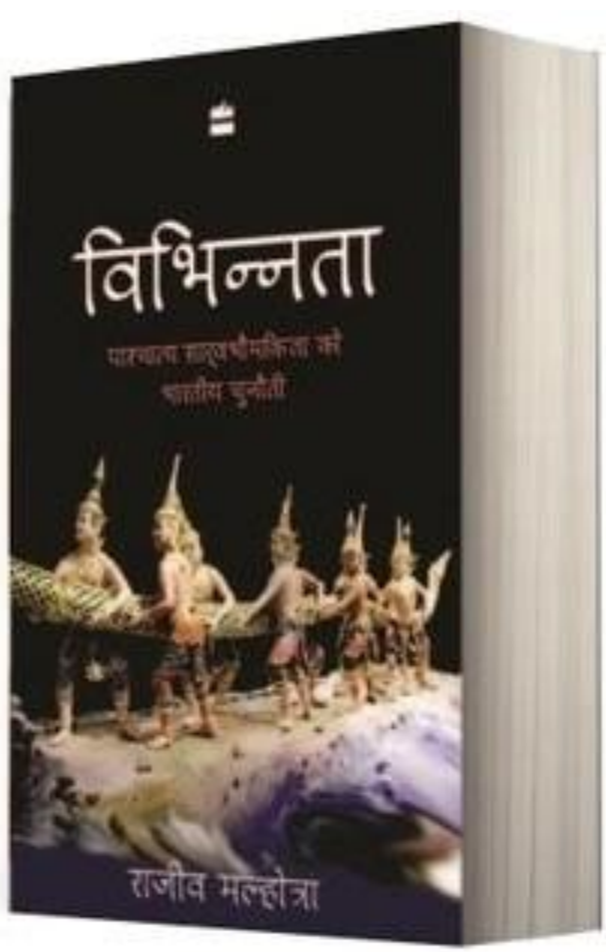

लघु-संस्करण रचयिता: जगदीश चन्द्र पन्त

Vibhinnata - Laghu Sanskaran
ISBN: 978-1-937037-04-8

Copyright © Rajiv Malhotra. All rights reserved.

कॉपीराइट © राजीव मल्होत्रा
समस्त वितरण एवं प्रकाशनाधिकार लेखक अधीन।

Rajivmalhotra2007@gmail.com

No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted, in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright owner.

लेखक इस पुस्तक के मूल रचनाकार होने का नैतिक दावा करता है। व्यक्तिगत प्रयोग के अलावा, इस पुस्तक का कोई भी अंश लिखित पुर्वानुमति के बिना व्यावसायिक अथवा किसी भी रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता।

"विभिन्नता " का लघु-संस्करण

जगदीश चंद्र पन्त द्वारा "Being Different" के सारांश का अनुवाद

प्रस्तावना

'विभिन्नता' राजीव मल्होत्रा की पुस्तक 'Being Different' का अनुवाद है जो उनकी हाल की पुस्तक-त्रई में से एक है और उनकी पहली पुस्तक 'Breaking India' के बाद एवं तीसरी पुस्तक 'Indra's Net' के पहले प्रकाशित हुई| इनमें से प्रत्येक पुस्तक जिस विषय को लेकर चलती है, उसके द्वारा वह एक नया परिदृश्य प्रस्तुत करती है, जो क्रमशः (१) भारत का पिछले २०० वर्षों का इतिहास, (२) किस प्रकार पश्चिम से भारत भिन्न है एवं (३) किस प्रकार प्राचीन काल से हिंदू धर्म ने अपनी दार्शनिक एकता को बनाये रक्खा है, और इन तीनों में से होकर एक सतत भाव-धारा बहती है, जिसका गहरा सम्बन्ध भारत के सरोकारों से रहा है| इन पुस्तकों के मुख-पृष्ठ से उद्धरित कुछ अंशों से प्रत्येक पुस्तक को लिखने के पीछे, लेखक के उद्देश्य को भली प्रकार समझा जा सकेगा|

भारत विखंडन, - 'द्रविड़वादी एवं दलितवादी दरारों में पश्चिमी हस्तक्षेप', जो 'Breaking India' का हिंदी अनुवाद बताता है कि किस प्रकार से "तीन ऐसे वैश्विक मकड़-जाल भारत की अखंडता को विखंडित करने में लगे हुए हैं जिनके, सुगठित क्रियाशील आधार-स्तम्भ भारत के अंदर स्थापित हैं| ये हैं: (१) पाकिस्तान से संबद्ध इस्लामी जिहाद; (२) नैपाल जैसे बिचौलियों के माध्यम से चीन-समर्थित मार्क्सिस्ट तथा माव-वादियों के समूह और (३) मानवाधिकारों के नाम पर पश्चिम द्वारा पोषित विखंडन-कारी द्रविड़वादी एवं दलितवादी पहचानें| यह पुस्तक इनमें से तीसरे बिंदु पर ध्यान आकर्षित करती है कि: अमरीका एवं यूरोप की चर्चें, बुद्धिजीवी-वर्ग, विचार-मंच, संगठन, सरकारें एवं मानवाधिकार-समूह, किस प्रकार से द्रविड़वादियों तथा दलित समुदायों की पहचानों को शेष भारत से अलग करते रहे हैं| शोध से पाया गया कि किस प्रकार विदेशी धनराशि का उपयोग शिक्षा, मानवाधिकारों, नेतृत्व एवं सशक्तिकरण-प्रशिक्षण के नाम पर भारत में ऐसी योजनाएँ चलाने हेतु होता है, जो क्रोधी युवाओं को उनकी भारतीय पहचान से विरत करते रहते हैं|

यह पुस्तक बड़े रोचक ढंग से यह बताती है कि कैसे अप्रचलित नस्ली सिद्धांतों का प्रयोग आज भी विकासशील देशों में, गृहयुद्ध एवं जाति-संहार भड़काने वाली काल्पनिक संरचनाएँ प्रस्तुत करने और उग्र-विवाद छेड़ने के लिए होता है| ईस्ट इंडिया कंपनी काल से आरंभ, द्रविड़-आन्दोलन के ही २०० वर्षों के इस इतिहास में, ऐसी चिन्ताजनक बातें आरंभ हुईं! उसका आधुनिकतम स्वरुप 'द्रविड़-ईसाइयत' आन्दोलन है, जो दो सौ वर्ष पहले बनाई गई दरारों को उघाड़ने हेतु, राजनैतिक-सांस्कृतिक इतिहास गढ़ने में लगा हुआ है| इस कार्य में रत, प्रमुख पश्चिमी हस्तियों एवं उनके भारत स्थित मित्रों के नाम, यह पुस्तक बताती है जिसका उद्देश्य इस विषय पर यह सच्ची बहस आरंभ करना है, कि तथाकथित मानवाधिकार एवं अन्य 'सशक्तिकरण' परियोजनाएँ, किस हद तक केवल अधम गतिविधियों पर, पर्दा डालने हेतु चलाई जातीं हैं| बैल्जियन विद्वान, कोएन्राड एल्स्ट, इसे पूर्वात्य-वाद, 'भारत-चौकसी', 'दक्षिण-एशिया अध्ययन' नाम के गंभीर राजनैतिक भ्रष्टाचार के अड्डों का आज भी पूर्ववत, खुलासा करने वाली पुस्तक मानते हैं|

विभिन्नता , 'पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती', (**Being Different** का अनुवाद है जो देवेन्द्र सिंह एवं सुरेश चिपलूनकर द्वारा संपन्न किया गया) में लेखक, भारत की ओ़र टिकी पश्चिम की एकटक दृष्टि को पलटकर, उनसे परस्पर भिन्नताओं पर उनके साथ सीधे सच्चे संवाद की चुनौती का सामना करने हेतु, भारत की दिशा से उन्हें धार्मिक दृष्टि से देखने पर ध्यान आकर्षित करते हैं| ऐसा करने पर, दोनों पक्ष जो एक दूसरे एवं अपने बारे में भी, अब तक बिना परीक्षण किये हुए विचार रखते आये हैं, उनको लेखक चुनौती देते हैं| वे स्पष्ट करते हैं कि जहाँ अद्वितीय

ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन पश्चिमी मजहबों के आधार हैं, वहां भारतीय धर्मों का आग्रह सशरीर यहीं और अभी, आत्मज्ञान प्राप्त करना है| वे यह भी इंगित करते हैं कि धर्म में निहित आधारभूत एकता के विपरीत, पश्चिमी विचार तथा इतिहास, कृत्रिम एकता पर आश्रित हैं| वे ध्यान दिलाते हैं कि संस्कृत पदों के विखंडनकारी अनुवादों से किस प्रकार की हानि हुई है और उसकी आलोचना होनी चाहिए एवं यह भी कि आपसी भिन्नताओं पर पश्चिमी व्यग्रता तथा उनकी कट्टर व्यवस्थात्मक सनक, धर्म में अराजकता के प्रति सकारात्मक सहजता के बिलकुल विपरीत है| वैश्विक दृष्टिकोण की वकालत करते हुए उन्होंने पाश्चात्य सार्वभौमिकता को अपनी इस पुस्तक के द्वारा नकार दिया है|

लघु संस्करण -भाग १ ("Being Different" के पृष्ठ ३०६ तक)

विभिन्नता का यह लघु-संस्करण **Being Different** के उसी मूल अनुवाद के अलोक में तय्यार किया गया है| यह उनके लिए सुविधा-जनक होगा जो मूल पुस्तक के सारांश को अंग्रेजी और हिंदी दोनों में पढ़ना चाहेंगे| इन्हें पढ़ना दोनों अद्भुत पुस्तकों को पढ़ने का विकल्प नहीं है, वरन इनमें में से किसी एक को भी कई बार पढ़ने के उपरांत, महत्वपूर्ण सूत्रों के स्मरण को पुख्ता करने हेतु यह लघु-संस्करण सुधि पाठकों के लिए उपयोगी होगा| भाग २ में इस पुस्तक को पढ़कर क्या करना अभीष्ट होगा, का खुलासा किया गया है|

इन्द्र-जाल – 'हिंदू धर्म की दार्शनिक एकता'| इन्द्र-जाल (Indra's Net) की अवधारणा जो अथर्व वेद से ली गई है, वह अन्तर्संबद्धता की एक सशक्त उपमा है| वह बौद्ध धर्म के अवताम्सक सूत्र के माध्यम से पश्चिमी विचार में समाया, जहाँ वह अब उत्तर-आधुनिकता-वाद के मूल में स्थापित है| इस उपमा के अनुसार, अंततः कुछ भी अपने आप से अस्तित्व में नहीं है एवं सब सीमाएँ विखंडित की जा सकतीं हैं| Indra's Net ने हिंदू धर्म की खुली संरचना, एकता एवं सातत्य के स्पष्टीकरण हेतु, इन्द्रजाल की संकल्पना का आवाहन किया है| इस दृष्टिकोण से पारंपरिक, आधुनिक एवं उत्तर-आधुनिक जैसे पश्चिमी वर्गीकरणों में, हिंदू धर्म को समेटना संभव नहीं है, जिस रूप में पश्चिम अपने को परिभाषित करता रहा है; बल्कि, यह साफ है कि हिंदू धर्म एक ही समय में, बिना अंतर्विरोधों के इन तीनों वर्गों से व्याप्त रहता आया है|

लेखक को यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा तब मिली, जब उनकी पुस्तक 'Being different' को, अमरीकी मजहबी अकादमी द्वारा, पुस्तक में दिए गए मूल बिंदुओं की ओर ध्यान दिए बिना ही 'नव-हिन्दुवाद', जो उनके अनुसार स्वामी विवेकानंद तथा अन्य हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा शुरू किया था, जैसा ही मान लिया गया, जबकि, पुस्तक में पश्चिम के साथ भारत के संबंधों के विषय में महत्व के कई बिंदु उठाये गए थे| इसलिए 'नव-हिन्दुवाद' के इस शरारती मिथक को समाप्त करने हेतु, शीघ्रता से तुरंत कुछ करना, लेखक के लिए आवश्यक हो गया|

राजीव मल्होत्रा के लेखन से मेरे जुड़ने का क्रम वर्ष २०११ के उत्तरार्ध में आरंभ हुआ और उसके बाद मुझे 'Being different' को कई बार पढ़ने की प्रेरणा हुई| पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य से मार्च १९७९ में मिलने के बाद, जो मेरे पूज्य गुरुदेव थे, की जीवंत तपस्या एवं उनके विस्तृत हिंदी लेखन से, गहराई से परिचित होने के कारण, मेरे मन में राजीव जी की इस अंग्रेजी पुस्तक के सटीक व सही हिंदी अनुवाद हेतु, पहले उसके हिंदी अनुवाद की परियोजना से जुड़ने, तथा फिर दोनों के लघु-संस्करण, अंग्रेजी एवं हिंदी में तय्यार करने की बात पैदा हुई| इस प्रकार, पुस्तक के हिंदी अनुवाद 'विभिन्नता' का प्रकाशन २०१३ में हुआ और अब इसके लघु-संस्करण को भी लेखक की अनुमति से, पाठकों के उपयोग हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है| यह आशा है कि 'विभिन्नता' का यह लघु-संस्करण, भारत के हिंदी हृदय-क्षेत्र के सहृदय पाठकों को प्रिय लगेगा और वे इसका गहन अध्ययन करने के बाद, इसकी गूढ़ ज्ञान राशि के प्रसारण का काम, भली प्रकार से करने हेतु तत्पर हों जायेंगे| अंग्रेजी में लिखी गई इन तीनों पुस्तकों को पढ़ने का अनुभव, मेरे, अपने लिए एक प्रकार का बौद्धिक अभियान एवं आध्यात्मिक पुनर्जागरण के समान रहा है, जिन के माध्यम से यहूदी-ईसाई मजहबों की तुलना में वेदों, वेदांत, वैष्णव, बौद्ध एवं जैन दर्शनों के विषय में मेरी समझ में आमूल-चूल परिवर्तन आया प्रतीत होता है| मेरी राय में, हर भारतीय को इन तीनों अंग्रेजी पुस्तकों एवं उनके अनूदित

संस्करणों को पढ़ना चाहिए|

सनातन धर्म की सेवा में, उसके विशाल दर्शन को यज्ञ-शालाओं, कथावाचकों की व्यास पीठों, मंदिरों और भजन-मण्डलियों से ऊपर उठाकर उसे अमरीकी मजहबी अकादमी तथा भारत और विश्व भर में घूमने वाले गुरुओं के मंचों तक पहुंचा देने का जो अद्वितीय काम, राजीव मल्होत्रा ने किया है, उसके लिए उन्हें सब का कोटि-कोटि साधुवाद है|

दिनांक १५ अगस्त, २०१४ जगदीश चंद्र पन्त

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

१. प्रस्तावना १

२. विषय प्रवेश ५

भाग १

३. सन्निहित स्वानुभूत ज्ञान बनाम इतिहास-केन्द्रिकता ७

४. अभिन्न आधारभूत एकता बनाम कृत्रिम दिखावटी एकता २७

५. अराजकता के प्रति व्यग्रता बनाम जटिलता एवं अस्पष्टता के प्रति सहजता ४३

६. संस्कृतियों को सोच-समझकर पचाना बनाम अनुवादेतर-संस्कृत ५३

भाग २

७. पश्चिमी सार्वभौमिकता से मुकाबला ७३

८. निष्कर्ष – पूर्वपक्ष और भविष्य की राह ८३

परिशिष्ट क ८७

परिशिष्ट ख ९३

भाग १

विषय प्रवेश

पूर्व से पश्चिम को देखने पर वह कैसा दिखता है, बजाय इसके कि पूरे विश्व को पश्चिमी नज़रिए से ही केवल देखा जाय? अपनी बहु-प्रचारित, आत्मावलोकन की क्षमता के बावजूद, पश्चिम को अपनी बहुत सारी कमियां दिखाई ही नहीं पड़तीं और उसे पूर्व, खासकर भारत की जरूरत है, जो उसी की भलाई के लिए इन कमियों से उसे अवगत करा सकता है और इस प्रकार पूरे विश्व में आज व्याप्त कई समस्याओं के समाधान में भी योगदान दे सकता है|

भारत स्वयं अपनी एक विशिष्ट एवं समेकित सभ्यता है जिसके अंदर और बाहर, विविध संस्कृतियों, मतों एवं दर्शनों के मध्य, उनकी गहन भिन्नताओं के बावजूद भी, उनसे सकारात्मक संवाद स्थापित करने की क्षमता सिद्ध है, जिसके बल पर मानवता की विभिन्न धाराओं को अपने में शांतिपपूर्ण विधियों से समाहित करने में वह सफल भी हुआ है| इस पुस्तक का विषय है, भारत किस प्रकार पश्चिम से भिन्न है, जिसमें यह भी खोज की गई है कि विश्व भारत को जैसा दिखाई पड़ता, वह पश्चिम की दृष्टि से किस प्रकार भिन्न है| भारत को केवल प्राचीन और नवीन के एक पुलिंदे की तरह नहीं देखा जा सकता, जिसे अप्रत्याशित और असहज रूप से बिना किसी स्वाभाविक एकता के, कृत्रिम रूप से जोड़ दिया गया हो| भारत वास्तव में एक समेकित समाज व्यवस्था स्थापित करने की विधि और उसका परिदृश्य प्रस्तुत करता है, जिसमें कई भिन्न मतों और यहाँ तक कि नास्तिकता और विज्ञान का भी पूर्ण समावेश हुआ है - साथ ही जीव-मात्र के अस्तित्व हेतु टिकाऊ पर्यावरण-संरक्षण एवं शिक्षा के प्रतिमान भी स्थापित किये गए हैं जो आज के उभरते हुए विश्व के लिए आवश्यक हैं|

लेखक का ध्यान अमरीकी इतिहास और संस्कृति पर विशेष रूप से केंद्रित है, क्यूंकि वे ही आज पश्चिमी पहचान के मुख्य नुमायंदे हैं| यूरोप के इतिहास की समीक्षा, लेखक मूलतः पश्चिम की स्वयं के विषय में, एवं भारत के प्रति उनकी समझ एवं उसकी ओर उनका दृष्टिकोण उजागर करने के उद्देश्य से करते हैं, विशेष रूप से भारत तथा उस सभ्यता, जिससे एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में भारत का उदय हुआ है, के प्रति पश्चिम की दृष्टि के निर्धारण में, जर्मनी के योगदान पर ध्यान केंद्रित करते हैं| भारत की पहचान को खंडित कर, उसके विभिन्न अवयवों के रूप में पश्चिम द्वारा प्रचलित विधि से वे देखने से परहेज़ करते हैं, जिस प्रक्रिया का उल्लेख उनकी पिछली पुस्तक “Breaking India” में देखने को मिलता है|

लेखक ने 'यहूदी-ईसाई'-वर्ण-संकर जैसे संबोधन का उपयोग, उस मत-व्यवस्था के लिए किया है जो इन दोनों मतों में स्वीकृत है, विशेषकर ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन को उनके द्वारा दिए गए महत्व को लेकर, जिसका उल्लेख लेखक ने "इतिहास-केन्द्रिकता" कह कर किया है| पश्चिमी आधारभूत मान्यताएँ एवं मूल्य केवल मात्र इतिहास-केन्द्रिकता से ही नहीं, वरन अरस्तुवादी यूनानी तर्क एवं प्रयोगाश्रित ज्ञान पर उनकी निर्भरता के परिणाम-स्वरुप गढ़ी गई सांस्कृतिक पहचान जिसे पश्चिम कहा गया, से भी उपजीं, जो कोई समेकित इकाई न होकर केवल मात्र एक कृत्रिम व्यवस्था है, जो गतिशील तो है, लेकिन गहराई से अस्थिर भी है, जिस से आरंभ से ही विस्तारवादी, व्यग्र और बेचैन आक्रामक अस्थिरता फ़ैलाने वाली, ऐतिहासिक

परियोजनाओं ने जन्म लिया है| इस अस्थिरता ने गैर-पश्चिमी लोगों पर ही नहीं, वरन स्वयं पश्चिमी लोगों पर भी कहर बरपा है|

'धर्म' एक संस्कृत शब्द है जो अपने में शताब्दियों से विकसित हो रही, विविधता-संपन्न जीवन-शैलियों एवं विचारों को समेटे हुए है, जो भारत में उपजी हिंदू, बौद्ध, जैन और सिख धर्मों की आध्यात्मिक परम्पराओं के परिवार की ओर इंगित करने हेतु सामान्यतः, आज प्रयोग किया जाता है और यह देखने में आता है कि इनमें से प्रत्येक संप्रदाय के विविध परिदृश्य तथा साधनाएँ, उनकी आतंरिक खुले-पन एवं अनाक्रामक-व्यवहार पद्यतियों, एवं तत्व-चिंतन के उच्च स्तर पर आधारभूत गहरी एकता के पोषक दिखाई देते हैं| पश्चिम में व्याप्त इतिहास-केन्द्रिकता और विज्ञान बनाम आस्था के द्वंदों से भारतीय धर्म व्यवस्था (जिसमें प्रयोगात्मकता एवं तनाव का अभाव कतई नहीं रहा है), सदा मुक्त रही है| लेखक इस धार्मिक दृष्टिकोण का उपयोग केवल उस विश्लेषणात्मक एकटक लगी हुई दृष्टि को पलटने के लिए करते हैं, जो सामान्यतः पश्चिम से पूर्व की दिशा में टिकी रहती आई है और परिणामतः, पश्चिम को अनायास ही पुष्ट करती रही है|

लेखक पश्चिम के सापेक्ष, भारतीय धर्म को उन दो चरम छोरों से अलग रखते हैं, एक जिसके फलस्वरूप धार्मिक ज्ञान को अति श्रेष्ठ बता कर उग्र-राष्ट्रीयता और दंभ परिलक्षित होने लगे, जो विश्व समुदाय से व्यवहार करने में कठिनाई पैदा कर सकता है, यहाँ तक कि अलग-थलक पड़ने का जोखिम भी पैदा हो सकता है| दूसरा छोर जिससे उन्होंने परहेज़ किया है वह है - धर्म को चुनिन्दा विरोधाभासी उदार विचारों का एक संग्रह-मात्र दिखाकर, उसकी स्वाभाविक परिवर्तनकारी क्षमता के लिए उपलब्ध, अनिवार्य एकात्मता का उसमें अभाव पैदा कर देना| जिन चार क्षेत्रों में यहूदी-ईसाई परम्पराओं और धार्मिक संस्कृतियों में अंतर है वे इस प्रकार हैं:-

१. सन्निहित स्वानुभूत ज्ञान बनाम इतिहास-केन्द्रिकता
२. अभिन्न आधारभूत एकता बनाम कृत्रिम दिखावटी एकता
३. अराजकता के प्रति व्यग्रता बनाम जटिलता एवं अस्पष्टता के प्रति सहजता
४. संस्कृतियों को सोच-समझकर पचाना बनाम अनुवादेतर-संस्कृत

#१: सन्निहित स्वानुभूत ज्ञान बनाम इतिहास – केन्द्रिकता

भारतीय धार्मिक और यहूदी-ईसाई परम्पराओं में, देवत्व को जानने की विधियों में मौलिक अंतर है| धार्मिक परम्पराओं ने 'अध्यात्म विद्या' नाम से आतंरिक विज्ञान और प्रयोगात्मक विधियों की एक विस्तृत श्रंखला विकसित की जिसके माध्यम से चेतना की प्रकृति के शोध द्वारा, देवत्व का प्रत्यक्ष साक्षात्कार एवं चेतना की उच्च स्थितियां प्राप्त करने के किये, सिद्ध साधकों द्वारा प्रयोगाश्रित निरीक्षण किया गया| साधना से खोजा गया इनके सत्य को, खोजने एवं उसका अनुभव प्राप्त करने हेतु, प्रत्येक जिज्ञासू साधक को स्वयं प्रयास करना होता है| लेखक ने 'सन्निहित ज्ञान' के संबोधन से इस अध्यात्म-विद्या की ओ़र संकेत किया है|

इसके विपरीत, मानव-मात्र के सामूहिक भाग्य के विषय में, यहूदी-ईसाई परम्पराएं देव-दूतों के द्वारा किये गए ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों पर निर्भर रहते हैं| मानव की दशा ईश्वर की अवज्ञा के पाप से उपजी है, जिसका आरंभ आदम और हव्वा, जो मानव-मात्र के पुरखे हैं, द्वारा किये गए प्रथम पाप से हुआ| हर एक व्यक्ति पापी ही पैदा होता है| इसके कारण मानव-मात्र देवत्व से नहीं जुड़ सकते (कम से कम धार्मिक अर्थ में तो नहीं ही); इसके बजाय मुक्ति आध्यात्मिक लक्ष्य है, जो केवल ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करके प्राप्त हो सकती है और जो विशेष देव-दूतों के समूह एवं इंगित की गई ऐतिहासिक घटनाओं के द्वारा ही समझी जा सकतीं हैं| इस लिए, उस दैवी हस्तक्षेप के ऐतिहासिक दस्तावेज़ को सावधानी से रक्खा जाना अनिवार्य है, एवं उसके सत्य को आगे बढ़ाना और आक्रामकता के साथ उस पर चर्च द्वारा आग्रह किया जाना आवश्यक है| यह इतिहास सारे विश्व पर अनिवार्यतः, लागू माना जाता है और मानवता के सामूहिक भाग्य का निर्धारण एवं उस पर निर्णय, 'अंतिम समय' (End Times) पर किया जायेगा| लेखक ने पूर्वकाल के दौरान इल्हाम से प्राप्त किये गए, दैवी सत्य के विशिष्ट एवं प्रायः विरोधी दावों पर इस प्रकार, डटकर आग्रह करने को इतिहास-केन्द्रिकता का नाम दिया है|

धार्मिक परम्पराओं के स्वानुभूत ज्ञान की तुलना में यहूदी-ईसाई परम्पराओं की इतिहास-केन्द्रिकता, इनके भारी अंतर को दिखाता है, जो एक ऐसी समस्या भी है जिसके परिणाम-स्वरुप अनगिनत, मनोविज्ञानिक, मजहबी एवं सामाजिक संघर्ष, जन्म ले सकते हैं| इतिहास को इतना महत्व देना (यहूदी-ईसाई परम्पराएं रहस्य-वादियों को शक की नज़र से देखती चली आई हैं) एक साधक की, अपने अंदर झांक कर खोज करने की स्वतंत्रता को कमजोर कर देता है, जिसकी अनुमति यदि चर्च देने लगे तो ऐसे साधकों के परस्पर विरोधी सत्य के दावों का समन्वय संभव नहीं हो सकेगा, जो अंतहीन कलह का कारण बन सकता है|

अध्याय १ – दुस्साहस भिन्नता का

भारतीय धार्मिक सभ्यताओं का सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक साँचा, पश्चिम की सोच से बिलकुल भिन्न है| भिन्नता-जनित व्यग्रता से निपटने का एक प्रचलित तरीका जो सामान्यतः दिखाई ही नहीं पड़ता, किसी हद तक, इसीलिए विशेष रूप से और भी खतरनाक है| लेखक यहाँ एक संस्कृति द्वारा दूसरी कम शक्तिवान को विस्थापित कर उसे पचाने की ओ़र ध्यान दिला रहे हैं, जिस से भिन्नता को कम दिखाने हेतु, बलवान संस्कृति, समानता का ढोंग कर, श्रोत को इंगित किये बिना उसे आत्मसात करती रहती है| लोकप्रिय संस्कृति के स्तर पर, भारत और पश्चिम में बराबरी दिखाई भी पड़ सकती है, लेकिन गहरे स्तरों पर जहाँ

सभ्यता की मूल अवधारणाएँ निवास करतीं हैं, वहां कार्यक्षेत्र झुका हुआ है| संस्कृति को अपने में मिलाया जाना, बराबरी का महज, एक दिखावा भर है|
प्रायः जब वैश्विक संस्कृति और सार्वभौमिकता की बात उठती है, तब ऐसा उजला परिदृश्य प्रस्तुत किया जाता है कि भारतीय धार्मिक और पाश्चात्य संस्कृतियों का संगम सदा से ही शुभ रहा है, जिस धारणा ने कई विकृतियों और श्रोतों का जिक्र किये बिना, पश्चिम द्वारा भारतीय संस्कृति के तत्वों को आत्मसात किया जाने के साथ साथ, कट्टर ईसाइयत, मार्क्सवाद, पूंजीवादी विस्तारवाद एवं अदूरदर्शी धर्म-निरपेक्षता के अति विनाशकारी प्रभाव की अनदेखी की है| युवा वर्ग, खासकर इस नई प्रकार की वैश्विक पहचान को, अपनी मूल परम्पराओं की कीमत पर तो प्रायः तुरंत अपनाता है| विशिष्ट संस्कृतियों को आपस में घुल-मिल कर एक हो जाने के भोले सिद्धांतों की दलील, इस प्रकार दी जाती है कि अब तो एक समतल, धर्म-निरपेक्ष विश्व उभरता चला जा रहा है, जिसमें सामूहिक इतिहासों, पहचानों एवं विश्वासों के आधार पर कोई भिन्नता रह नहीं जायेगी| गत सदी का आधुनिकता-विरोधी आन्दोलन ऐसी ही एक संरचना थी जिसका महत्वाकांक्षी, दिखावे का लक्ष्य तो यह था कि पश्चिमी आक्रामकता का बहिष्कार हो, लेकिन उसके पास ऐसा कोई विकल्प नहीं था जिसके अंतर्गत वे भिन्नताओं को सकारात्मक रूप से उभरने देने के महत्व को समझ सकते, न ही उसमें ऐसी समझ थी कि क्यूँ भिन्नताओं को समन्वय से रहने देना, विश्व के लिए अभीष्ट भी हो सकता है| वैश्वीकरण को ऐसी शर्तों एवं संरचनाओं में प्रायः प्रस्तुत किया जाता है, जिनका प्रादुर्भाव पिछले ५०० वर्षों के, विश्व पर पश्चिमी अधिपत्य के अधीन हुआ, जो उन मूल्यों तथा विश्वासों पर आधारित है, जिनका उद्गम यूरोपीय लोगों के विशिष्ट इतिहास और मजहबी अनुभवों से हुआ| सामूहिक पहचानों के विखंडन और त्याग से एवं 'आधुनिकता', 'नस्लवाद', 'मजहब', तथा 'राष्ट्रवादिता' के परे की सोच, जैसे आकर्षक विचारों से, सभी सीमा-रेखाओं को चुनोती दिए जाने पर जो चित्र उभरता है, उसमें स्वतंत्र विश्व का नहीं, वरन उन्हीं शक्तिसंपन्न पहचानों का प्रभुत्व स्थापित रहता है, जो आज तक अपने इतिहास के विवरण और मूल्यों के दम पर बलवती हो चलीं हैं|

इस दावे का, कि वैश्वीकरण का आवश्यकीय अर्थ पाश्चात्यीकरण है, का आधुनिक चीन एक अच्छा विपरीत उदाहरण है, जिसने आज विश्व भर से व्यवहार करने में अपनी विशिष्टता को अपनी शर्तों पर बखूबी प्रस्तुत किया है| इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम से अपनी भिन्नता को प्रदर्शित करने का अर्थ, शेष विश्व से अलग-थलग हो जाना या पूर्व-आधुनिकता में अथवा किसी पुरातन-स्वप्न लोक में अटके रह जाना कदापि नहीं है|

वैचारिक उदारता के ढोंग को भेदना : भिन्नताओं को भुलाने हेतु 'सब एक हैं' के भाव को आग्रह-पूर्वक प्रस्तुत करने के प्रमुख मंचों में से अंतर्साम्प्रदायिक-संवाद का मंच प्रमुख है| जिस मजहब में 'फर्ज़ी देवताओं' की पूजा होती हो और जिसके मानने वालों को 'मूर्ति-पूजक' या 'काफ़िर' कह कर हिकारत से जाना जाता हो, उन्हें सहन तो किया जा सकता है, लेकिन उनका सम्मान तो नहीं हो सकता| इस बात पर लेखक ने जोर दिया है, कि 'परस्पर-सम्मान' का भाव समरसता को व्यक्त करेगा, बजाय 'सहनशीलता' के जो कृपा करने जैसा है| यूरोप में ईसाइयत के सब संप्रदायों के बीच सदियों के मजहबी युद्धों के बाद, 'सहनशीलता' पर जोर देने का चलन प्रचलित हुआ| 'सहनशीलता' को 'परस्पर सम्मान' में बदलने से, ईसाइयत के उन विशिष्ट दावों पर आंच आएगी, जिनके बल पर उनके द्वारा बड़े पैमाने पर धर्मान्तरण के लिए चलने वाले अभियानों का औचित्य स्थापित होता आया है| लुथेरन संप्रदाय के अनुयायियों को तो यह विश्वास करना होता है कि

बाइबिल ही, समस्त दैवी ज्ञान का प्रकट श्रोत है और वही 'एक-ग्रन्थ' है, जो सभी विश्वासों एवं सिद्धांतों के विषयों का निर्णायक है|

यह सर्वविदित है कि भारत में ईसाई पादरी छल से 'सब एक हैं' का भुलावा जता कर सुनने वालों को सामान्यतया निहत्था कर, अंततः उनका धर्मान्तरण करते आए हैं| यह स्पष्ट है कि अंतर्साम्प्रदायिक-संवाद जैसे सार्वजनिक मंचों के माध्यम से विश्व के मजहबों के बीच, युगों पुराने जटिल मतभेद नहीं सुलझाए जा सकते हैं, लेकिन कम से कम यह तो मांग हम कर ही सकते हैं कि, उनमें भाग लेने वाले लोग, जो गंभीर चिन्तक माने जाते हैं, वे इन्हें झुठला कर 'सब एक हैं' का मुखोटा पहने रहने के बजाय आमने-सामने उन समस्याओं की ओर देख कर, समाधान निकालने का प्रयास तो करें| सदृश्यता एकतरफा नहीं हो सकती है: यदि 'क' 'ख' के समान है तो 'ख' को भी 'क' के समान ही होना चाहिए| लेकिन श्री कृष्ण या महादेव शिव को कितने गिरजाघर वही वैश्विक भगवान मानने को तय्यार हैं जिस का वर्णन बाइबिल में है? अवसर-विशेष पर सदृश्यता के दावे के परिक्षण का यह व्यावहारिक तरीका प्रयोग में लाया जा सकता है| खुल्लम-खुल्ला तौर पर भले ही जब अंतर्साम्प्रदायिक-संवादरत ईसाई प्रचारक सदृश्यता के दावे न करते हों, लेकिन उपस्थित हिंदू प्रतिभागियों को इसी बचकाने आधार की धारणा के भुलावे में इन संवादों में भाग लेने हेतु वे प्रेरित करते हैं| प्रमुख ईसाई संप्रदाय, अपने धर्मान्तरण के उद्देश्यों को इसी प्रवृति का अनुसरण कर के हाथों हाथ संचालित करते रहते हैं, जब आरंभ से ही श्रोताओं को दोस्ती के झांसों में रख कर वे निहत्था कर देते हैं|

भिन्नता - जनित व्यग्रता या परस्पर सम्मान ?: भिन्नता का सम्मान हो, यहाँ तक कि उसे सकारात्मक मानकर गौरवान्वित भी किया जाय तथा सब ओर से खुले दिल से उसका परिक्षण हो, इस सुझाव का प्रायः, समान रूप से भारतीयों और पश्चिमी लोगों द्वारा विरोध किया जाता है| लेखक इस विरोध को 'भिन्नता-जनित व्यग्रता' कह कर संबोधित करते हैं, जो अक्सर सांस्कृतिक एवं मजहबी सन्दर्भों में लोगों में प्रकट होता है| यह उस मानसिक असहजता की ओर इशारा करती है जो, भिन्नता के अहसास से सामान्यतः उत्पन्न हुआ करती है तथा उसे कमतर करने, छिपाने या मिटाने की प्रवृति के साथ-साथ विचारों, आस्थाओं और पहचान में समानता की अपेक्षाकृत, आरामदायक अवस्था की तलाश में रहती है| ऐसी विचार-धारा चारों ओर व्याप्त प्रकृति के बिलकुल विपरीत है, जिसमें पशुओं, पौधों, पुष्पों, ऋतुओं, चट्टानों एवं यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के हर स्तर की विराट विविधता में, प्रत्यक्ष भिन्नताएँ, गहराई से निहित दिखाई पड़तीं हैं|

पश्चिमी सभ्यता का यह चलन रहा है कि वह अन्य सभ्यताओं के खण्ड-खण्ड कर उन्हें अपनी श्रेणियों, जिन्हें 'गोरे', 'ईसाई', एवं 'प्रगतिशील' नस्ल द्वारा निर्धारित किया गया था, में स्थापित करते हैं, जो पूर्व की ओर पश्चिमी एकटक लगी दृष्टि को विशेषाधिकार प्रदान करता है और उसे सार्वभौमिक प्रतिमान घोषित कर औरों को उन्हें मानने के लिए मजबूर करता है| यह एक नियंत्रणकारी व्यवस्था भर है|

भारतीय धार्मिक संस्कृतियों में पले-बढ़े कई लोग स्वयं के गोरे, पश्चिमी, ईसाई, आदि न होने के कारण हीनता-जनित व्यग्रता महसूस करते हैं, और उनकी नई पहचान को तब बढ़ावा मिलता है जब वे यह कल्पना करने लग जाते हैं कि वे उपनिवेशकों के सांचे में, उनके विश्व-इतिहास के विवरण में, उनके वैश्विक विचार, भाषा, मिथक, सौंदर्य-शास्त्र आदि में भली प्रकार से स्थापित हो गए हैं| एक संस्कृति को दूसरे के द्वारा पचाये जाने और इस प्रकार अपने में मिला लिए जाने के मुकाबले, उनमें परस्पर आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती

रहने देने से, वे दोनों अधिक दीर्घजीवी हो सकते हैं, जब कि पचाई गई संस्कृति तो नष्ट ही हो जाती है| भारतीय परम्पराएं परस्पर सम्मान के आधार पर भिन्नताओं को समस्या नहीं मानतीं हैं, उनकी रक्षा की व्यवस्था बनाती हैं| प्रकृति में जैसी अनिश्चितता, संशय एवं कई और प्रकार की जटिलताएं समाई रहतीं हैं, भिन्नता उसका ही चित्रण तो प्रस्तुत करती है और उनके प्रति सहजता, भारतीय वैश्विक दृष्टि में संनिहित है|

भिन्नता - जनित व्यग्रता - दम्भ से: पश्चिम बहुत बेचैनी से प्रतिक्रिया करता है, जब कभी यहूदी-ईसाई विश्वासों में निहित व्यापक असहजता और खालीपन के बदौलत, उसे प्राप्त हुई आधिपत्य स्थापित करने की उसकी विरासत से चली आ रही इस प्रवृत्ति को चुनौती मिलती है, जिन विश्वासों द्वारा पाश्चात्य संस्कृति सदियों से जकड़ी हुई है और अभिभूत रही है| यह बेचैनी या व्यग्रता मुख्यतः तीन तरीकों से प्रकट होती है:

* सीधी हिंसा से बेहिचक, दूसरे का सफाया अथवा जबरन धर्मान्तरणकरना; एक शक्ति-संपन्न चर्च विश्व भर में मजहबी-समानता स्थापित करने हेतु अपने इश्वर-प्रदत्त अधिकार से इस ईसाई परियोजना को संचालित करता है|

* मुख्य-धारा से दूसरे को बेदखल करना, ताकि वह कोई खतरा न पैदा कर पाए| अमरीकी दार्शनिक रौरटी अपनी 'व्यावहारिक' सोच इस प्रकार से फरमाते हैं कि, भारतीय विचार-धारा पश्चिमी लोगों के लिए अप्रासंगिक है, क्यूंकि यदि उसके अध्ययन से उनके करने-धरने में कोई फर्क नहीं पड़ता, तो उससे कहीं कोई फर्क नहीं पड़ता, जिस सोच के फलस्वरुप पश्चिमी अकादमी द्वारा भारतीय सभ्यता को दक्षिण एशियाई अध्ययन एवं हाशिए के लोगों के लिए आरक्षित, ऐसे ही कोनों में धकेल दिया गया|

* दूसरे मत के विधि-विधान की छलपूर्वक नक़ल करना, जो उस मत में एक प्रकार की घुसपैठ है, ताकि निहित भिन्नता को फीका कर अंततः उसे पचा जाना| यह बलशाली सहयोगी द्वारा दुसरे के विधि-विधान को अपनाने का दिखावा करते हुए, भिन्नता मिटाने का अत्यधिक छल-पूर्ण तरीका है - केवल इसलिए कि दूसरे पर दबाव डाल कर उसे आधिपत्य से अंततः, धर्मान्तरण हेतु मजबूर किया जा सके| पश्चिम से इतर क्षेत्रों में घुसपैठ करने की यह विधि, रणनीति के तौर पर कैथलिक परंपरा में अब बखूबी स्वीकृत है| टस्कन जेसुइट मिशनरी रौबरटो द नोबिली (१५७७-१६५६) इस विधि का सबसे अग्रणी-प्रवर्तक था, जो १६०८ में दक्षिण भारत आया था और आज उसके काम को चर्च द्वारा सांस्कृतिक-घुसपैठ की आदर्श कार्य-विधि माना जाता है - यद्यपि यह छलपूर्ण था| दक्षिण भारतीय कैथलिक मत के मानने वालों द्वारा आज जो विधि-विधान और व्यक्तिगत नामों में हिंदू नामावलियों का उपयोग किया जाता है, उसके लिए रौबरटो द नोबिली मुख्य रूप से जिम्मेदार है, विशेषकर आंध्र प्रदेश और तमिलन्नाडू में| वेदों, योग-सूत्रों और उपनिषदों से, लगभग सौ उद्धरण लेकर रोमन कैथलिक चर्च ने २००८ में 'इंडियन बाइबिल' प्रकाशित की, जो व्यावहारतः पेगन (मूर्ति-पूजक) को पालतू बनाकर उसके खतरे को हटाने जैसा है| भारत में ईसाई सांस्कृतिक-घुसपैठ को जिस प्रकार से अन्जाम दिया जा रहा है, वह एक ऐसी गंभीर समस्या है, जिसके अंतर्गत हिंदू धर्म के उन तत्वों को उससे अलग करने का प्रयास किया जाता है जिन्हें ईसाई लोग बोझ समझते हैं, ताकि यहाँ की संस्कृति को पंथ-निरपेक्ष बना दिया जाय| इसका एक चिंता-जनक ज्वलंत उदाहरण है, भारत-नाट्यम को उसकी मूल हिंदू पहचान से विरत करने का एक प्रचलित अभियान, ताकि धर्मान्तरण हेतु इस नृत्य-विधा में निहित गहन सौन्दर्यशास्त्रीय संकेतों को उपयोग में लाया जाय|

भिन्नता - जनित व्यग्रता - हीनता से: भिन्नता-जनित व्यग्रता किसी सांस्कृतिक अथवा राजनैतिक आदान-प्रदान में केवल बलशाली पक्ष को ही महसूस नहीं होती है| जो पक्ष जाने-अनजाने अपनी हीन अवस्था को अपनी ही पहचान से उत्पन्न हुआ महसूस करने लगता है, उसी पर भिन्नताओं को मिटाने का जिम्मा अक्सर आ पड़ता है, ताकि वह अपेक्षाकृत कम अजनबी, कम हीन, या कम से कम बलशाली पक्ष के सांचे में, आसानी से अटने के काबिल माना जाने लगे| ऐसा कुछ व्यवहार सामान्यतः, अनेक समाजों में देखा जा सकता है, और भारत ने तो इसे गहरे से अपना ही लिया है| मजहबी भिन्नताओं से उत्पन्न व्यग्रता तो अन्य प्रकार की भिन्नताओं में भी छलक सकती है| उदाहरणार्थ, जो धर्मान्तरित हो चुके हैं और जो धर्मान्तरण हेतु दबाव में हैं, वे अधिकाधिक पाश्चात्य सांस्कृतिक चलनों को पसंद करते हुए दिखाई पड़ सकते हैं| इसके फलस्वरूप, गोरे समाजों द्वारा स्वीकृत होने में कई भारतीय गर्व महसूस करने लगते हैं; वे अपनी प्रगति सुनिश्चित करने हेतु बदले में भिन्नताओं को मिटा कर, गोरी संस्कृति की नक़ल करने में लग जाते हैं| समानता ज़ाहिर करने की यह इच्छा सतही तथा गहरे, दोनों स्तरों पर होती है और प्रस्तुत प्रकार का विश्लेषण उन लोगों के लिए शायद कष्टदायक भी हो सकता है, जिनकी व्यग्रता एवं सांस्कृतिक हीनता का भाव इससे उजागर होता हुआ दिखेगा|

पश्चिमी लोगों के बीच एक भारतीय अपने हाथों से खाने में अधिक असहज महसूस कर सकता है, बनिस्पत परंपरागत भारतीयों के बीच एक पश्चिमी व्यक्ति छुरा-कांटे से खाते हुए महसूस करेगा (बल्कि उसकी भिन्नता उसे और अधिक विशेषाधिकार प्रदान कर सकता है)| पश्चिमी परिवेश में उनसे भिन्न दिखना और कुछ भी करना तो एक भारतीय के लिये तो अत्यधिक व्यग्रता का सबब हो ही सकता है| हिंदू गुरुओं के द्वारा एक और उदाहरण हीनता-जनित नक़ल का तब देखने को मिलता है जब, 'वैश्विक' और उदार दिखने तथा अपनी बात को मनवाने हेतु वे अक्सर 'सब मजहब समान हैं' कह कर अपनी परंपरा को धूमिल करते हैं, जब कि उन्हें कहना चाहिए कि 'सब मजहब बराबर तो हैं लेकिन भिन्न भी'| भारत में यहूदी-ईसाइयत कि यह नक़ल, विशेषरूप से उपनिवेश काल में आरंभ हुई जब हिंदू नेता, उपनिवेशकों कि नक़ल कर उनकी परम्पराओं को अपनाने लगे, ताकि यूरोपीय संवेदनाओं से सुविधा पूर्वक सामंजस्य स्थापित हो सके|

हड़पना एवं आत्मसात करना : भिन्नता-जनित व्यग्रता से निपटने की एक विधि, इसलिए भी विशेषरूप से खतरनाक है क्यों कि वह आम तौर पर दिखाई ही नहीं पड़ती| अपने में मिलाने, भिन्नता कम करने तथा समानता का आग्रह करने की आड़ में, एक संस्कृति द्वारा दूसरी कम बलवती संस्कृति को विस्थापित कर, उसे पचाने की ओ़र लेखक यहाँ संकेत कर रहे हैं| हालाँकि जहाँ तक लोकप्रिय संस्कृति का सवाल है, भारत और पश्चिम, समानता के स्तर पर मिलते दिखाई पड़ सकते हैं, लेकिन गहरे स्तरों पर जहाँ सभ्यता की मूल अवधारणाएँ निवास करतीं हैं, वहां कार्यक्षेत्र एक ओ़र झुका हुआ है| संस्कृति को हड़पना समान दिखने का छद्म दिखावा भर है| कमजोर संस्कृति बलवान वाली में ऐसे पचाई जाति है कि:

१. बलवान सभ्यता दूसरी सभ्यता के टुकड़े-टुकड़े कर, उनमें से अपनी पसंद के टुकड़ों को हड़पने के लिए चुन लेती है;
२. अपने इतिहास एवं प्रतिमानों को ध्यान में रखकर, इन चुने हुए टुकड़ों को बलवती सभ्यता, अपनी भाषा तथा सामाजिक व्यवस्था में इस तरह बैठाती है कि, श्रोत-परंपरा से उनके संबंधों का नामो-निशान न रहे;
३. खंगाली गई सभ्यता अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक पूँजी खोकर गरीब हो जाती है, क्यूंकि हटाए गए

अंशों, जिन्हें बलवती सभ्यता के इतिहास में बैठाने हेतु संशोधित किया जाता है और इस प्रकार इन अंशों को श्रोत सभ्यता से असंबद्ध दर्शाया दिया जाता है, यहाँ तक कि उसके विपरीत भी दिखा दिया जाता है;

४. खंगाली गई सभ्यता एक और मृत संस्कृति के रूप में, लोकसिद्ध अजायबघर में दाखिल कर दी जाती है और सदा के लिए उसकी ओ़र से, बलवती सभ्यता को खतरा समाप्त हो जाता है|

५. किसी सभ्यता के चुनिन्दा अंशों के पचाए जाने के बाद जो टुकड़े बचते हैं, वे हटाये और नष्ट किये जाने हेतु ही रह जाते हैं| भिन्नताओं के मिट जाने के कारण ही कोई सभ्यता पचाए जाने और मेजबान के गुण-सूत्रों के अनुरूप ढलने हेतु शिकार बन जाती है| बलवती पक्ष अपने सौंदर्यशास्त्र, भाषा, प्रतिमानों, ऐतिहासिक आदर्श तथा दर्शन को अपनी अवधारणाओं के मुताबिक ऊपर से थोप देता है और उन्हें सार्वभौमिक विश्व-दृष्टि के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है|

६. नस्ल-वाद पर आधारित भक्षक-सभ्यता जो इस उदाहरण में पश्चिम है, पची हुई सभ्यता की कीमत पर पुष्ट होती चली जाती है और यह विडम्बना ही है कि, प्रति-तर्क में पश्चिम अपने को विश्व के केन्द्र में स्थापित मानवता को हांकने वाला इंजन बता कर, इस प्रक्रिया को सभ्यता की प्रगति बताता है| पश्चिमी सभ्यता द्वारा गैर-पश्चिमी सभ्यताएं केवल खंगाले जाने-योग्य संसाधन के रूप में ही प्रासंगिक मानी जातीं हैं|

७. दूसरी सभ्यताओं के अनुदानों की फसल को हड़पने के अलावा, पश्चिम ने उनकी जड़ों को तो नष्ट किया ही है, और इस प्रकार मानव संस्कृति में विविधता को समाप्त करने के साथ-साथ भविष्य में उन सभ्यताओं द्वारा और प्रचुर उत्पादन करने की उनकी क्षमता को भी कुंठित कर दिया| जो तत्व पचाए जा चुके होते हैं वे उन संस्कृतियों के अंतिम निष्कर्ष हुआ करते हैं, क्यूंकि उसके उपरांत पचाई गई सभ्यताओं में उनकी रही-थही हड्डियां मात्र शेष रह जातीं हैं और मृत होने के कारण उनकी अग्रगामी, स्वाभाविक विकास की क्षमता प्रायः समाप्त हो चुकती है|

भिन्नता - जनित व्यग्रता के मिथ्या समाधान - धर्म और सदृश्यता : कई भारतीयों ने इस भय को गहराई से अपना लिया है कि, भिन्नताओं के कारण हिंसा होती है और इसलिए वे स्वयं को पश्चिम से अपनी भिन्नता के लिए दोषी मानने लग जाते हैं| हिंसा से घबराए, वे अपनी पहचान को धूमिल कर 'सदृश्यता' की ओ़र खींचे चले जाते हैं| भारतीय अभिजात्य वर्ग 'विशुद्ध' पाश्चात्य संस्करण वाले सदृश्यता-युक्त हिंदू धर्म में सहज महसूस करते हैं (जैसा कि उपनिवेश काल में भी था)| भारतीय धर्म 'सत्' और 'असत्', 'दैवी' और 'आसुरी' में स्पष्ट भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं और सदृश्यता का भोला-भाला सिद्धांत, उस भिन्नता का अनादर करता है| धर्म के विषय में इस प्रकार की सामान्य गलतफहमियां, उन सभी तामसिक हिंदुओं के लिए एक प्रकार की सुरक्षा प्रदान करते हैं जो हीनता-जनित व्यग्रता से ग्रस्त रहते हैं| व्यवहार में इस प्रकार का दीन-हीन हाव-भाव भारतीय धर्म को क्षीण, विकृत और अंततोगत्वा पचाए जाने की ओ़र ले जाता है|

'एकत्व' को अक्सर भिन्नता का प्रतिकार करने के अर्थ में बता दिया जाता है ('सदृश्यता' के समानार्थी के रूप में), जब कि ब्रह्माण्ड की विराट विविधता में 'एक' और 'एक के अनेक रूप', एक साथ विद्यमान होने की बात पर, वेदांत वास्तव में आग्रह करता रहा है| यह सापेक्ष्य वास्तविकता उस 'एक' पर ही आश्रित होने पर भी, भले ही स्वयं से पृथक अस्तित्व में नहीं है, उसके अस्तित्व को कतई नकारा नहीं जा सकता| सापेक्ष्य अस्तित्व को नकारने की बात, वास्तव में भारतीय धर्म के विभिन्न संप्रदायों में से कोई भी नहीं करता है, बल्कि प्रत्येक संप्रदाय बिना फल की इच्छा के, ज़िम्मेदारी से कर्म करने पर जोर देता है| ईसाई धर्मान्तरण-कर्ता, सदृश्यता को (इस 'एकत्व' के समानार्थी के रूप में) गले लगाने की आड़ में, भले ही सांस्कृतिक-घुसपैठ

करने में सफल हो जाते हों, हकीकत में वे भारतीय धार्मिक परम्पराओं को अवैध मानते हैं| यदि वे वास्तव में मजहबों एवं संस्कृतियों के बीच सदृश्यता में विश्वास करते होते तो, उन्हें हिंदुओं, बौद्धों और जैनों को धर्मान्तरित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्यूंकि तब ये काफ़िर माने ही न जाते| हिंदुओं द्वारा 'सब धर्म एक सदृश्य' की अस्पष्ट धारणा का आग्रह करना, इकतरफा खुला हुआ एक ऐसा घातक रास्ता बन जाता है, जो विस्तारवादी संगठित मजहबों द्वारा भारतीय धार्मिक परम्पराओं को धूमिल करने और अपने में मिलाने से आरंभ होते हुए अंततः, उनके पेट में पचाए जाने की ओ़र उन्हें धकेल देता है|

उत्तर-आधुनिक टालमटोल : इतिहास के तथा-कथित 'बृहद-आख्यानों' को, पाश्चात्य-प्रगति की छोटी-मोटी कथाओं से बढ़कर न मानते हुए उन्हें विखंडित करने की प्रक्रिया को, उत्तर-आधुनिकवाद ने चलन प्रदान किया है| इस वाद के मानने वाले सब पहचानों को मिटाने अथवा धूमिल कर देने की दलील देते हैं, क्यूंकि उनके अनुसार सभी सकारात्मक विशिष्ट संस्कृतियाँ अपने परिवेश में कमजोर और दबे हुए तपकों का दमन करने वाली हैं| इसी के कारण गैर-पश्चिमी संस्कृतियों के अस्तित्व पर आज संकट आ पड़ा है, जिन्हें प्रोत्साहन, संरक्षण और विकसित होने के अवसर दिए जाने की तुरंत आवश्यकता है| जिस भारतीय विशिष्टता को लेखक स्पष्ट कर रहे हैं, वह उत्तर-आधुनिकवादीयों द्वारा गिनाई गई समस्याओं से प्रभावित नहीं है, क्यूंकि (१) वह ऐतिहासिक विशिष्टता या श्रेष्टता पर आधारित नहीं है, चाहे वह मजहबी हो अथवा अन्य कोई, (२) वह ज्ञान की निश्चयात्मकता का कोई दावा नहीं करता, तथा (३) दूसरों पर कुछ भी लादने का उसे कोई आदेश नहीं है|

उत्तर-आधुनिक रवैया यह मानता है कि आज का अमरीकी समाज एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें विद्यमान वर्णसंकर संस्कृतियां पहचानों को धूमिल कर रहीं हैं, जिसके कारण सभी सीमा रेखाएँ अप्रासंगिक हो गईं हैं और इसलिए वह एक व्यग्रता-मुक्त समाज बन रहा है| ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि पश्चिमी संगठनों में जहाँ सत्ता विराजती है, वहां सीमा रेखाएं मिट चुकीं हों| उत्तर-आधुनिक विद्वानों को चाहिए कि वे लोक-प्रिय संस्कृति और अमूर्त आकृतियों के विश्लेषण से इतर जाकर, पश्चिमी शासन, व्यवसाय एवं ईसाइयत के उन दमनकारी सगठनों का विखंडन करें, जिनमें सत्ता-व्यवस्था वास्तव में विराजती है| राष्ट्र-राज्यों एवं उनसे सम्बंधित पहचानों की उत्तर-आधुनिक आलोचना, वास्तव में साम्राज्यवाद को इस हद तक पोषण प्रदान कर रहा है कि वह उनके प्रतिनिधि के रूप में उनके शिकार को, अपनी पहचानों को इकतरफा छोड़ देने के लिए तय्यार कर देती है| ऐसा इसलिए है, क्यूंकि पश्चिम जो निर्यात करता है वह उसे न तो खुद मानता है और न ही अपनों के लिए बढ़ावा देता है| अमरीका एवं यूरोपीय संघ की शक्ति उनके उदार उत्तर-आधुनिक विद्वानों की सतही गतिविधियों से प्रभावित नहीं होती है| इन 'उदार' विद्वानों द्वारा संपन्न अधिकांश विदेशी-अध्ययनों विषयक शोध का निहितार्थ, वास्तव में, राजसत्ता तथा चर्च के हितों के पोषण हेतु ही होता है|

भारतीय विचारकों द्वारा भारत का विखंडन एक नए प्रकार के औपनिवेशिकवाद के अस्थिर्ता-मूलक प्रभाव को आमंत्रित कर रहा है| भारतीय उत्तर-आधुनिकवादी सबसे प्रचलित प्रकार की उस भिन्नता के झंडाबरदार बन गए हैं, जो 'दलितों' की दृष्टि में उन्हें हीन वर्ग का सदस्य मानता है| लेकिन कई ऐसे दलित अल्पसंख्यक समूहों का ज़िम्मा, अंतर्राष्ट्रीय गठजोड़ों (जिनमें चर्च, चीनी-माववादी एवं इस्लामी प्रमुख हैं) ने ले लिया है जिसके कारण वे न केवल वास्तव में स्वचालित और स्वतंत्र हो गए हैं, बल्कि एक नए प्रकार के दूर से संचालित और नियंत्रित औपनिवेशिकवाद के अनुचर बन गए हैं| उत्तर-आधुनिक विखंडन द्वारा, भारतीय धर्म

को अस्त-व्यस्त टुकड़ों में तोड़ कर पश्चिम के अंदर पचाए जाने हेतु तय्यार कर, इस प्रकार उसकी प्रक्रिया सुविधाजनक बना दी जाती है, जहाँ से उन टुकड़ों को पश्चिम द्वारा धार्मिक परम्पराओं के लिए विद्वानों द्वारा अप्रासंगिक दिखाया जाता है और फिर उनसे क्रम से अलग भी कर दिया जाता है, ताकि बारी-बारी से उन्हें चुन कर पचाया अथवा नष्ट किया जा सके| पश्चिम द्वारा भारतीय सभ्यता को पचाने हेतु प्रोत्साहन दिये जाने की प्रक्रिया, विचित्र तर्कों के आधार पर उचित ठहराइ जाती रही है; दूसरे शब्दों में उनके अनुसार, भारतीय सभ्यता जैसी कोई चीज़ न कभी थी और न ही यह अब है, और इस तर्क के समर्थन में फिर एक और दावा किया जाता है कि, 'इन्डियन' शब्द की संरचना तो अंग्रजों द्वारा की गई थी|

उत्तर-आधुनिकवाद कई मायनों में भारतीय दर्शनों से मिलता-जुलता है| व्यक्ति के अहम को, धर्म विखंडित करता है जबकि, उत्तर-आधुनिकवाद सामूहिक सांस्कृतिक पहचान को विखंडित करता है| चूंकि उसके पास स्वयं की साधना एवं अनुभूति से, भिन्नताओं के पार जाने में सहायक, चेतना की उच्च अवस्था प्राप्त करने हेतु धार्मिक परम्पराओं का योग उपलब्ध नहीं है, उसके द्वारा किये गए विखंडन की इतिश्री शून्यवाद अथवा उदासीनता के रूप में हो जाती है, जबकि इसके विपरीत भारतीय धर्म में अहंकार के विखंडन से, आत्मज्ञान की संकल्पना और उसकी अनुभूति के द्वारा, एक सकारात्मक अस्तित्व का आधार तय्यार होता है|

पूर्व-पक्षः पूरब की ओर एकटक लगी दृष्टि को उलटना : यहूदी-ईसाई परम्पराओं के लोगों द्वारा पश्चिमी वर्गों में विश्व को देखा जाना ही वह पश्चिमी 'एकटक लगी दृष्टि' है, जो उनके परिदृश्य को सार्वभौमिक सत्य-निर्धारण के प्रतिमान स्थापित करने का एकाधिकार प्रदान करने वाला दर्जा वास्तव में देता है| इसके कारण पश्चिमी लोग स्वयं अपनी कमियों, विफलताओं, सनकों, खासियतों एवं विचित्रताओं को देखने के मामले में, अंधे बने रह जाते हैं| दूसरी सभ्यता जब इस प्रकार की एकटक लगी दृष्टि का लक्ष्य बन जाती है तब, वह सापेक्षिक बनने के साथ साथ सार्वभौमिक रह ही नहीं जाती| लेखक के अनुसार इस समस्या को सुलझाने हेतु, पूर्व-पक्ष की प्राचीन एवं शक्तिशाली भारतीय परंपरा अपनायी जानी चाहिए, जिसके अंतर्गत भिन्नताओं से दृष्टि हटनी नहीं है, वरन बिना सदृश्यता के दिखावे के और न ही किसी व्यग्रता के, उनका स्पष्टीकरण करने का प्रयास रहता है| पूर्व-पक्ष में कई ऐसी सावधानियां बरतनी होतीं हैं जो आज प्रायः दिखाई ही नहीं पड़तीं हैं, जैसे, सीधा मुकाबला, भिन्नताओं का स्पष्टीकरण, और बराबरी की पूर्वधारणा|

अध्याय २ – योग : इतिहास से मुक्ति : इश्वर को जानने की दो विधियाँ

(१) यहूदी-ईसाई मजहब : यहूदी-ईसाई परम्पराओं में इल्हाम 'ऊपर' से आता है, जिसकी दीक्षा परमेश्वर द्वारा प्रदत्त सन्देश के साथ होती है तथा जिसे पाने के लिए मानव में पात्रता आवश्यक है, लेकिन जो अपने आप में काफ़ी नहीं है| वह विशेष ऐतिहासिक घटना इन मजहबों का सुदृढ़ आधार है, जब स्वयं परमेश्वर ने मनुष्यों को सत्य का सन्देश पहचानने हेतु बाहर से हस्तक्षेप किया था और जो कालांतर में आधार बन गया, इन हस्तक्षेपों के विस्तृत विवरणों के दस्तावेजों के संग्रह तथा अध्ययन करने के जनून का| लेखक 'इतिहास केंद्रीक' कहते हैं परमेश्वर को जानने के इस तरीके को| भारतीय धर्म व्यक्ति की सतत दैवी-क्षमता का आग्रह करते हैं जो यहूदी-ईसाई मजहबों के 'पाप से मुक्ति' के आग्रह के सर्वथा प्रतिकूल है| धर्म की दृष्टि से यहूदी-ईसाइयत की इतिहास-केन्द्रिकता, अजीब नहीं तो विचित्र अवश्य है| जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं: 'जिस प्रकार यूरोप में ईसा की ऐतिहासिकता के प्रश्न पर विवाद पैदा हुए थे, उन्हें एक आध्यात्मिक

मानसिकता वाला भारतीय, अधिकांशतः समय की बर्बादी ही मानेगा'| वे आगे कहते हैं कि 'यदि मनुष्य रूप में इश्वर अर्थात क्राइस्ट, हमारी अंतरात्मा के अंदर निवास करते हैं, तो मैरी का पुत्र कभी था या तड़प-तड़प के जुडिया में क्रूस पर मरा था, से कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है?'

ईसाइयत में ईसा के शूली पर बलिदान के माध्यम से ही ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता खुला; इसीलिए उस एक विशिष्ट ऐतिहासिक घटना का उसके लिए इतना अधिक महत्व है| ईसाइयत कम से कम दो युगों में फैले, तथा-कथित 'मुक्ति के इतिहास' को भी मान्यता प्रदान करता है| इनमें पहला है परमेश्वर के 'चुनिन्दा लोग' इजराइलियों का कथानक, जो 'राष्ट्रों के प्रकाश' माने गए हैं और जो विश्व में न्याय तथा शांति लाते हैं| उस के बाद, ईसाई चर्च ने कालांतर में 'परमेश्वर के लोगों' के दायित्व के साथ-साथ, इजराइलियों और खासकर क्राइस्ट के प्रकाश को राष्ट्रों में फ़ैलाने का ज़िम्मा, विरासत में पाया| अन्य संस्कृतियों और सभ्यताओं को सुधारने तथा मार्गदर्शन प्रदान करने की, तथा-कथित दैवी आज्ञा ईसाईयों को इन विश्वासों से ही मिली (कभी-कभी बलपूर्वक भी), जिसके कारण ऐसे अभियानों को उचित ठहराया जाता है| सभी ईसाई और यहूदी इन परियोजनाओं का समर्थन नहीं करते, और पूर्व और नवविधान दोनों, ऐसे नेतृत्व को प्रोत्साहन देने की बात करते हैं जिनमें अधिरोपण के स्थान पर उदाहरण प्रस्तुत करने की सीख दी गई है| इनके बावजूद भी, इस आक्रामक मिशन के भाव के कारण ही विश्व भर में ईसाईयों द्वारा कई विस्तारवादी आक्रामक अनुशासनों एवं कार्यक्रमों को अन्जाम दिया जाता रहा है| परिणामतः, खून-खराबा और स्थानीय एवं मूल संस्कृतियों का विनाश हुआ है| इसके आगे, यह ध्यान देने योग्य बात है कि धर्मान्तरित लोग, ईसाई समाज में समा कर उनके विश्वासों को अपनाने के बाद अपने पहले के रिश्तेदारों से दूरी तो बनाने लगते ही हैं, धर्मान्तरण से पूर्व के अपने पूर्वजों और परम्पराओं को कोसने भी लगते हैं| ईसाई परम्पराएं दावा करतीं हैं कि परमेश्वर ने उन पर विशेष कृपा की| उपरोक्त दोनों मामलों में, केवल एकमात्र सामूहिक इकाई, पहले इजराइल और उसके बाद चर्च ही परमेश्वर की कृपा पाने हेतु चुने गए| यहूदी-ईसाई पैगम्बरों के बारे में लिखित, ये सर्वश्रेष्ट मजहबी अधिकार-संपन्न दस्तावेज़ माने गए हैं, जो उन समाजों पर ही केवल लागू नहीं होते हैं जहाँ वे उपजे थे, वरन पूरी मानवता पर भी वे सदा के लिए लागू होते हैं| पूरी पृथ्वी गृह का भाग्य इन दस्तावेजों को सही समझने पर निर्भर करता है| इस तरह संगठित मजहब, एक प्रकार का इतिहास-क्लब है जो पैगम्बरी-शिक्षा तथा निर्देशों को 'सही' रूप से समझाने की व्यवस्था करता है| मुक्ति हेतु ऐसा सामूहिक और इतिहास-केंद्रित दृष्टिकोण, इसी उद्देश्य हेतु भारतीय धर्म में, हर व्यक्ति द्वारा स्वयं प्रयास-रत होने के बिलकुल विपरीत है|

सत्य को प्रसारित करने के लिए केवल इतिहास के दस्तावेजों पर ही निर्भर रहना, जिनमें परस्पर प्रतिकूल दावे भी विद्यमान रहते हैं, तथा जो अब पुष्टि अथवा नक़ल किये जाने हेतु प्रत्यक्षतः उपलब्ध भी नहीं हैं, अवैज्ञानिक और अतार्किक लगने के अतिरिक्त समस्या-ग्रस्त भी है, जिनके कारण विभिन्न मजहबों तथा प्रतिद्वंदियों के बीच संघर्ष पैदा होते रहते हैं| शास्त्र जो अक्षरशः सत्य और निर्विवाद होने का भी दावा करते हैं, तथा जिनके ऐतिहासिक विवरणों को चुनौती नहीं दी जा सकती है, वे अपने कुछ अर्थों में प्रत्यक्ष रूप से अस्पष्ट भी हुआ करते हैं, जिसका परिणाम अंततः ज़मीन पर विनाशकारी होता है| यहूदियों के लिए मुक्ति व्यक्तिगत नहीं है, सामूहिक होती है और इतिहास में परमेश्वर के द्वारा हस्तक्षेप करने से इजराइल का उद्धार होना, इस मुक्ति का गहरा लक्षण है| यह उद्धार (एक ऐतिहासिक घटना) हुए बिना, परमेश्वर की आज्ञा को जानना असंभव, और मुक्ति की ओर जाने का मार्ग अप्राप्य और अगम्य होता| बाइबिल में इजरायलियों द्वारा

मिस्र से कूच का जिस प्रकार से वर्णन किया गया है, वह एक निर्णायक घटना है| यहूदियों द्वारा सामूहिक मुक्ति में विश्वास का यह एक अकाट्य तथा केन्द्रीय तत्थ्य माना जाता है| ईसाईयों में प्रचलित विश्वास है, कि उनकी मुक्ति तीन ऐतिहासिक घटनाओं के वास्तविक होने पर निर्भर करती है: ईसा का अवतार, ईसा का बलिदान, और फिर ईसा का पुनारुत्थान| पासोवर की रस्म में, यहूदी अपने पूर्वजों के निष्क्रमण को याद करते हैं, जब कि ईसाई ईस्टर पर ईसा के पुनारुत्थान को याद करते हैं| ईसाईयों के अनुसार परमेश्वर का अवतार केवल एक बार ईसा के रूप में हुआ, यद्यपि यहूदी और मुसलमान यह नहीं मानते कि ऐसा कोई अवतार कभी हुआ भी था|

इतिहास बनाम मिथक : पश्चिमी दृष्टिकोण की जड़ें, कि 'इतिहास' और 'मिथक' एक दूसरे से बिलकुल अलग हैं, यहूदी-ईसाई पारंपरिक सोच में समाये हुए हैं| यूरोपीय प्रबोध-काल से पहले तक बाइबिल-आधारित साहित्य को व्यापक रूप से ऐतिहासिक सत्य के रूप में माना जाता था और अब भी जो ईसाई मजहब के केन्द्रीय कथानक हैं, वे अकाट्य ऐतिहासिक तत्थ्य करार दिए जाते हैं| अधिकांश पश्चिमियों के लिए अन्य संस्कृतियों के मताधारित आख्यान 'मिथक' (या शिष्टाचार वश कहें तो 'पवित्र कथाएँ') माने जाते हैं, जबकि वे अपने आख्यानों को इतिहास के दृष्टिकोण से सत्य मानते हैं| उनकी मान्यता है कि, पश्चिम की भूतकाल से ही चली आ रही अविछिन्न इतहास की धारा के समान, जो भविष्य तक जाने की क्षमता रखती है, वह अन्य सभ्यताओं के पास नहीं है| पश्चिम आज तक यही जोर देता रहता है कि भारत के कथानक पूर्णतः काल्पनिक हैं, जिनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, बावजूद इसके कि उदाहरण के लिये, उपग्रहों के हाल के चित्रों ने सरस्वती नदी और श्रीकृष्ण की द्वारका के अस्तित्व के प्रमाण दिए हैं|

पश्चिम यह मांग करता है कि उसके मिथक ऐतिहासिक माने जांय, ताकि उनके सत्य होने का दावा किया जा सके| भारतीय, इतिहास-केन्द्रिकता का लबादा नहीं ढोते हैं, इसलिए उन पर ऐसा दावा करने का कोई दबाव नहीं है कि उनके मिथक इतिहास हैं| इतिहास के अपने-अपने संस्करण के दावे हुआ करते हैं जो आपस में प्रतिद्वन्दिता करते रहते हैं| सामान्यतः, इतिहास में क्या सम्मिलित किया गया है और क्या नहीं, किस बात पर जोर दिया गया, किसके दृष्टिकोण को प्रधानता दी गई, कौन से मूल्य दबाए गए, आदि अधिकांशतः एकपक्षीय होता है| पश्चिम में, एक शक्ति-संपन्न तंत्र और विस्तृत प्रक्रिया विकसित की गई, जो उनके इतिहास को बनाने में लगा हुआ है, और जिसके अंतर्गत पश्चिमी मानविकी, मुख्यतः अपने मिथकों को इतिहास का रूप देने में तथा श्रेष्ठता के पश्चिमी विश्वासों को वैश्विक इतिहास के सांचों के रूप में प्रस्तुत करने में प्रयासरत रहा है, ताकि अन्यों को 'सभ्य' बनाने अथवा दमन करने हेतु उसके नेतृत्व को सब, अपने भाग्य में बदा हुआ समझने लगें| अपने अतीत को सार्वभौमिक सांचे के रूप में सभी समुदायों पर लागू करने की बात, भारत की कोई जाति कभी सोचती ही नहीं|

सर्वनाशी सोच : बाइबिल के रहस्योद्घाटनों की पुस्तक की व्याख्या के अनुसार अंतिम परिस्थिति कहलाने वाली घटना, विश्व का प्रलयंकारी तथा हिंसात्मक अंत है, जो बाइबिल-आधारित मजहबों की ऐसी शब्दशः तथाकथित सत्य घटनाओं में सम्मिलित है, तथा जो ईसाइयत के समग्र इतिहास पर छाया हुआ रहा है| यह विपदाओं की एक पूरी श्रंखला की भविष्य-वाणी करता है: क्राईस्ट तथा क्राईस्ट-विरोधी की वापसी और क़यामत का दिन, जिसके अंतर्गत मुक्ति और नरक-दंड के स्पष्ट निर्णय किये जायेंगे| इतिहास के अंत के इस सिद्धांत को ऐशेटौलौजी कहते हैं| इस प्रकार, इतिहास का केवल आरंभ ही परिभाषित नहीं है, उसका भविष्य

में अंत-बिंदु भी परिभाषित है, जैसा कि क्राईस्ट द्वारा सब राष्ट्रों पर अपना निर्णय दे दिए जाने के समय स्थिर हो जायेगा| टाइम पत्रिका के एक लेख में यह स्पष्ट किया गया था कि, अमरीका को सदा से इतिहास के इस भव्य विवरण के अलोक में, उसके नेताओं द्वारा जाना गया था|

इतिहास - केन्द्रिकता कैसे प्रभावी है : ईसाई मजहब – पराए इल्हाम के रूप में

पश्चिमी विचार यह स्वीकार करता है कि जानने की मानवीय सीमाएं हैं, लेकिन इन सीमाओं को लांघने की तकनीकों एवं साधनाओं की श्रंखला के विकास में वह असफल रहा है| बाइबिल में परमेश्वर ने मानव के जानने की सीमा पर प्रतिबन्ध लगाया था, जो प्रतीक रूप में ज्ञान के वृक्ष के अच्छे-बुरे फल न खाने के निर्देश से प्रकट होता है| विज्ञान और दर्शन के आधुनिक पाश्चात्य लौकिक संरचनाओं द्वारा भी, यदा-कदा कई विधाओं में बुद्धि की सीमित क्षमताओं का उल्लेख करने के दावे किये जाते हैं| इन सीमाओं को लांघने हेतु पश्चिम ने अध्यात्म-विद्या सरीखी कोई व्यवस्थित वैज्ञानिक विधा कभी विकसित नहीं की| विज्ञान तथा मजहब क्षेत्र के विद्वान, एलन वॉलेस जो इस कमी की ओर खास ध्यान दिलाते हैं, लिखते हैं: "...अरस्तु के समय से ही पश्चिम ने मानसिक गतिविधियों के निरीक्षण हेतु एक विश्वसनीय यंत्र के रूप में प्रयोग में लाने के लिए, बुद्धि को परिष्कृत करने की विधियों के विकास की ओर, नहीं के बराबर प्रगति की है| और ...आज तक भी पश्चिम में किसी ऐसे प्रयोगाश्रित-विज्ञान के विकास में काफ़ी प्रतिरोध जारी है|" यूरोपीय अंधविश्वासों ने तो, व्यवस्थित आधार पर अध्यात्म-विद्या के अनुसरण की प्रक्रिया को स्वाधीनता पूर्वक चलाने की प्रवृति को वस्तुतः, मार ही डाला|

वॉलेस यह दिखाते हैं कि ईसाई रहस्यवादीयों ने भी मानवीय क्षमताओं पर गंभीर प्रतिबन्ध लगाये थे| वे इंगित करते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है इनमें एक 'व्यापक निष्कर्ष' उभर चुका था : "...कि चिंतन की उच्चतम अवस्थाएं अनिवार्य रूप से क्षणिक स्वाभाव की होतीं हैं, जो सामान्यतः लगभग आधे घंटे से अधिक लंबे समय तक नहीं रह पातीं| रहस्यमय-संयोग की इस प्रकृति की क्षणिकता पर जोर देने का आग्रह, सबसे पहले ऑगस्टीन से आरंभ हुआ प्रतीत होता है, और यही फिर प्रतिबिंबित होता है, एक हज़ार साल बाद माइस्टर एकहार्ट के लेखन में..."| यह कहा जा सकता है कि, समाधि, अर्थात चेतना की वह अवस्था जिसमें मन-बुद्धि सतत रूप से बिना व्यवधान के, ज्ञानातीत अवस्था में तल्लीन रहती है, की संकल्पना का पश्चिमी विचार, बहिष्कार करता रहा है| यद्यपि प्रोटेस्टंट मजहब कई मायनों में वैज्ञानिक निरीक्षण के प्रति मैत्री भाव रखता था, वॉलेस तर्क देते हैं कि गहन आतंरिक निरीक्षण के मामले में उसने पश्चिमी मानस को और भी अधिक संकुचित कर दिया| मजहब के अलावा, यूरोपीय विज्ञान पूरी तरह से बाहरी दुनिया तक ही सीमित रहा, तथा उसकी दार्शनिक अटकलबाजियां, योग जैसी आतंरिक तकनीकों से दूर रहीं| ऐसी परिस्थिति में रेने डेकार्ट (१५९६-१६५०) के प्रचंड प्रभाव ने स्थिति को और बद्तर बनाया| यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि उसने आतंरिक प्रयोगात्मक निरीक्षण के आधार पर 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' से अपनी बात आरंभ की, लेकिन वॉलेस के अनुसार वह इसे अध्यात्म-विद्या की दिशा में ले जाने के बजाय, दार्शनिक रूप से मूलतः विखंडन की दिशा में ले गया और ऐसा प्रतीत होता है की - "एक मत-शास्त्रीय चाल के द्वारा डेकार्ट ने यह घोषणा कर दी, कि दैवीय रूप से रूह को शारीर में डाला गया है, और इस प्रकार प्रभावी तरीके से मानव मन-बुद्धि को प्राकृतिक जगत से उसने दूर कर दिया गया... डेकार्ट के बाद तो, दो शताब्दियों तक पश्चिमी विज्ञान के द्वारा मन-बुद्धि का अध्ययन आरंभ ही नहीं हो पाया|"

पश्चिमी मजहबी मनोविज्ञान के अग्रणी विद्वान विलियम जेम्स (१८४२ -१९१०) के कार्य पर भी इस प्रतिबन्ध की छाया बनी रही, जिसके स्वयं के पास इस शोध-कार्य के लिए आवश्यक प्रयोगाश्रित यंत्र नहीं थे| वॉलेस आगे बताते हैं - "संक्षेप में, ऐसा प्रतीत होता है कि कोपर्निकस से लेकर आधुनिक समय तक पश्चिमी विज्ञान की दिशा और विकास-पथ, पूरी तरह से मध्य-युगीन ईसाई-ब्रह्मांडिकी से प्रभावित रहे|" आज के सैद्धांतिक विद्वानों के पास अधिकांश रूप से, इस प्रकार की स्वयं से प्रयोग करने के आधार ही नहीं हैं, जिनके बल पर वे भारतीय धर्म की ज्ञान-मीमांसाओं को समझ भी सकते|

यहूदी और ईसाई मत्शास्त्री, प्राचीन अधिनियमों को इस प्रकार गंभीरता से पढ़ते हैं, जैसे वकील लोग जटिल व्यापारिक अनुबंधों को शायद पढ़ते होंगे| मत्शास्त्रियों के बीच वाद-विवाद, सचमुच में व्यावसायिक वकीलों में बहस की याद दिलाते हैं| मत्शास्त्र को पढ़ने की इस पद्धति का अनुसरण करने हेतु, विद्वान लोग सबूतों का अध्ययन इस प्रकार से करते हैं, कि परमेश्वर और मानवता के बीच हुए अनुबंधों को पुनर्निर्मित किया जा सके| इसलिए, इन मजहबों के पांडित्य पर अधिकांशतः कानूनी-न्यायशास्त्र तथा ऐतिहासिक-विश्लेषण की प्रवृत्तियां हावी रहीं हैं| ये संस्थाएं अधिनियमों का संरक्षण, उनके अर्थ-निर्धारण, मिथ्या दावों एवं विरोधियों की होने वाली धमकियों से उनकी रक्षा, उनके वितरण पर नियंत्रण करने, और विस्तारवादी परियोजनाओं के सञ्चालन में, उनका सन्दर्भ देकर उनसे फायदा उठाने की देख-रेख करते रहते हैं| संदर्भित प्रत्येक इब्राहिमी मजहब में, परमेश्वर ने सामूहिक रूप से उस एक समूह से लेन-देन किया है| यहूदी 'चुने' हुए लोग हैं, ईसाई इश्वर-पुत्र के बलिदान से लाभान्वित लोग हैं, और मुसलमान लोग उम्मा के रूप में संगठित होकर, पैगम्बर के मार्फ़त भेजे गए अल्लाह के अंतिम तथा पूर्ण आदेश को मानने वाले हैं| इसलिए, प्रायः ध्यान बाहर की ओर रहता है (जैसा कि इनकी संस्थाओं द्वारा व्यक्त हो)| कई महत्वपूर्ण अधिनियम वैय्यक्तिक आध्यात्मिकता के बारे में नहीं, सामुहिक मुक्ति के सम्बन्ध में होते हैं, जिनमें काफिरों की पराजय के लिए समाज तथा राजनीति को संगठित करने के निर्देश होते हैं| व्यक्तिगत मुक्ति का अनुभव केवल मृत्यु के बाद, स्वर्ग में ही होता है|

पैगम्बरी परम्पराओं में प्राधिकार : यहूदी-ईसाई परम्पराओं में ईश्वर तक मानवीय-पहुँच को समझने हेतु, उनके अद्वितीय पैगम्बरी इतिहास को ही सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, जैसा कि हमने देखा भी है| आध्यात्मिक अभीप्सा यहाँ मुख्यतः आत्म-बोध पाने के बारे में नहीं, वरन वह अधिकतर व्यक्तियों एवं समाजों के बारे में परमेश्वर की इच्छा जानने के लिए होता है| इतिहास-केन्द्रिकता इन मजहबों के सभी पहलुओं में गहराई से उलझी हुई है| यद्यपि सभी पैगम्बर बहुत काल पहले आए थे, उनका अशरीरि इतिहास, आज केवल उनके विशिष्ट अधिकृत उपदेशों के श्रोत के रूप में हमारे पल्ले रह गया है| नाज़ुक बिंदु यह है कि ईसाईयों को कहा जाता है कि वे ईसा के अवतार को स्वीकार करें (केवल ईसा को ही, और किसी को नहीं) लेकिन वे स्वयं उसी प्रकार, अपने अंदर उनकी अनुभूति नहीं कर सकते| 'ईसा बनने' का अर्थ होगा कि ऐसे बहुत सारे लोग ईसा जैसी अवस्था को प्राप्त कर लेंगे, और इसका अर्थ होगा - ईसा की और चर्च की वर्तमान अद्वितीयता का आधार ही खोखला हो जायेगा| शास्त्रों और भविष्य वाणियों में वर्णित, तथा-कथित ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि, वास्तव में असंभव होती है| दूसरी ओर इसी प्रकार, वैज्ञानिक जानकारी इतिहास-केंद्रीक नहीं है| विज्ञान में भी इतिहास तो अवश्य है, लेकिन उसका आशय ईसाइयत में उसके आशय से बिलकुल भिन्न है| ईसा के विषय में जैसे दावे ईसाईयों द्वारा किये जाते हैं, उन से बिलकुल भिन्न गौतम बुद्ध ने विशेष जोर देकर कहा था कि, उनका निर्वाण केवल एक शाश्वत तथ्य की खोज भर थी, जो सदा से

अस्तित्व में था| रहस्यवाद को प्रायः पश्चिम में अविवेकपूर्ण अथवा बचकानी मानसिक अवस्था माना जाता है, जो वास्तव में हुए अनुभव के विक्षेप अथवा उसके बारे में गलतबयानी की ओ़र साधक को प्रवृत कर सकता है| कैथलिक संप्रदाय में तो औपचारिक रूप से मरने के कुछ निश्चित वर्षों के उपरांत ही एक आध्यात्मिक गुरु को संत की उपाधि दी जाती है, ताकि उसके द्वारा चर्च के संस्थागत प्रभुत्व को किसी प्रकार की चुनौती की दिए जाने की सम्भावना न रहे, जो एक जीवित गुरु से तो कभी भी मिल सकती है|

यहूदी तथा ईसाई परम्पराओं में औपचारिक क्रमाचारों, कानूनी संहिताओं, मत-विधानों के मूल-पाठ के अनुसार जो संस्थाएं संचालित होतीं हैं, वे ही यह नियंत्रित और तय करतीं हैं कि क्या उनके मजहबों में प्रामाणिक और साधिकार माना जा सकता है| सभी प्रतिद्वंदियों को दोयम दर्जे कि ओ़र धकेल दिया जाता है| अन्य संप्रदायों को बराबरी का दर्जा तथा हार्दिक सम्मान कभी भी नहीं दिया जाता है| अंतर्साम्प्रदायिक संवाद दिखावा भर है| इसका एक उदाहरण है, सं ३२५ में नाइसीन सिद्धांत द्वारा पहली बार ईसाइयत को रोमन साम्राज्य का राज्य द्वारा अनुमोदित, अधिकारिक मजहब घोषित किया गया था, जो ऐतिहासिक तथा मत्शास्त्रीय दावों की एक ऐसी सूची है, जो अधिकांश ईसाई चर्चों में दुहराई जाती है तथा जिसकी आधारीय-शपथ हर ईसाई को लेनी अनिवार्य होती है| यही कैथलिक मत, इस्टर्न ऑर्थोडॉक्सी, अधिकांश प्रोटेस्टन्ट चर्चों तथा एंग्लिकन कम्यूनियन का अधिकारिक सिद्धांत है और ईसाई एकता के कई आधारों में से एक है, जबकि इसी प्रकार का दूसरा आधार विधिवत बापतिस्मा, अर्थात दीक्षा है|

ईसा को मुसलमान, एक महान पैगम्बर तो मानते हैं, लेकिन इश्वर-पुत्र के रूप में उनके होने की संभावना को ही कतई नकारते हैं, क्यूंकि इस्लाम हठ करता है कि इश्वर के कोई पुत्र या पुत्रियां नहीं हैं और कोई इश्वर जैसा नहीं हो सकता| ईसा की इस प्रकार इश्वर-पुत्र से पैगम्बर के रूप में पदावनति, ईसाईयों को कतई मंजूर नहीं है, क्यूंकि इससे नाइसीन-सिद्धांत के मूल निर्देशों का ही उल्लंघन हो जायेगा और इसका अर्थ होगा कि इस्लाम का दर्जा ईसाइयत से ऊपर है, क्यूंकि वह बाद के पैगम्बर द्वारा परमेश्वर के नवीनतम प्रतिज्ञा-पत्रों के साथ प्रवृत हुआ था| इस लिए, कुर्रान को ईसाई लोग परमेश्वर का प्रतिज्ञा-पत्र नहीं मानते हैं| सदा, अद्वितीय सत्य के ऐसे ही दावों से संघर्ष पैदा हुआ करते हैं|

यहूदी-ईसाई परम्पराओं में संचरण : इब्राहिमी मजहबों में सर्वाधिक अधिकारयुक्त पैगम्बरों की सूची बंद हो चुकी है, और यही स्थिति उनके लिखित अधिनियमों की भी है| निर्णायक उपदेश दिए जा चुके हैं, चाहे वह पूर्व विधान हो, नया विधान हो या कुर्रान| आज के किसी पैगम्बर के उपदेशों को वह दर्जा या अधिकार मिल ही नहीं सकता जो बाइबिल या कुर्रान को प्राप्त है| रहस्यवाद को गैर-ईसाई मानकर, प्रोटेस्टन्ट शोधन की शुरुवात करने वाले मार्टिन लूथर ने उसकी निंदा की थी| बाद में, उत्तर-कैंट-वादी बुद्धिजीवी संस्कृति ने स्पष्टतः, रहस्यवाद को तार्किकता के विरुद्ध परिभाषित कर उसे अकादमी से बहिष्कृत कर दिया| जैसे-तैसे रहस्यवाद और तार्किकता को, एक दूसरे के बिलकुल विरुद्ध बताने की यह रूढ़ीबद्धता आज तक भी पश्चिम में विद्यमान है| रहस्यवाद अथवा सदेह-अनुभूतियों के प्रति दुर्भाग्य से, इस प्रकार के बैर-पूर्ण दृष्टिकोण के कारण ही वास्तव में पश्चिम में आतंरिक विज्ञानों की परंपराएँ या वंशावलियां बानाने वाले संप्रदाय ही तय्यार नहीं हो पाये| टौमस आ' कोम्पि तथा फ्रांसिस द साल्स के भक्तिमय-अभ्यास की महान नियम-पुस्तिकाओं के प्रति भी तिरस्कार का भाव है, जिसके कारण कम ईसाईयों को इनकी जानकारी है| भारतीय धर्म-परम्पराओं में उपलब्ध सिद्ध-संतों की सदा बढ़ने वाली श्रृंखलाओं की तरह, जिस मजहब में उसी प्रकार विकसित होने वाली

श्रंखला तय्यार हो जाएगी, उसे नियंत्रित करने में कठिनाई तो पैदा होगी ही, जो जड़-सिद्धांत से संपन्न मजहबों के नियंत्रण में नहीं हो सकती है| स्वाभाविक है कि, सिद्ध-संतों की सदा बढ़ने वाली श्रंखलाओं को, इसी कारण इन मजहबों में किसी प्रकार का प्रोत्साहन नही दिया जाता है|

कुछ हलकों में यह धारणा है कि भारतीय धर्म की तरह ईसाइयत के पास अपना योग तथा अध्यात्म-विद्या है, जो अक्सर भारतीय धर्म से अध्यात्म को अलग करने के बाद हथिया कर, उसे यहूदी-ईसाई या पश्चिमी लौकिक-वज्ञानिक सांचे में ढालने के प्रयास हेतु, समर्थन पाता है| इस आधार पर पश्चिमी इतिहास के बिखरे पड़े हुए असंबद्ध उदाहरणों को बढ़ा-चढ़ा कर इस्तेमाल भी किया जाता है| पुराने पश्चिमी हस्तियों को अग्रणियों के रूप में महिमा-मंडित कर एवं उनके लिये नई भूमिका बनाकर उन्हें भारतीय शोध-कर्ताओं के स्थान पर बैठाकर, उन्हें निरपवाद रूप से भारतीय श्रोतों से उधार ली गई मूल खोज के प्रथम आविष्कारक के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है| यहाँ संकेत किया जा रहा है उस बिंदु की ओर कि, पाश्चात्य संस्कृति पर भारतीय दर्शन का गहरा प्रभाव हुआ है, फिर भी उसे पश्चिम द्वारा लगातार उपेक्षित किया जाता रहा है|

देह के प्रति वर्जनाएँ : कई यहूदी और ईसाई नेताओं में अभी भी भारतीय योग, प्रचंड विवादों का विषय रहा है| आज भी योग-साधकों को उससे विमुख करने के कई प्रयास होते रहते हैं, क्यूंकि उसे मिथ्या देवताओं की इबादत को प्रोत्साहित करने वाली एक अंजानी प्रकार की प्रतिकूल साधना-पद्यति माना गया है| इस तनाव का अधिकतर कारण बुतपरस्ती, मूर्तिपूजा और देह के प्रति वर्जनाओं से सम्बंधित यहूदी-ईसाई भय तथा व्यग्रता है| देह को पश्चिम के पूरे इतिहास में शर्म तथा अपराध-बोध का कारण माना गया है, जिसे हटाने के प्रयास, प्रबोध-काल तथा उसकी तार्किकता ने नहीं के बराबर किये| यहूदी मजहब, मूल जिस्मानी पाप की संकल्पना के विषय में, ईसाई जुनून का पूरी तरह से सहभागी तो नहीं है, लेकिन स्वानुभूत आत्म-बोध की खोज करने के बजाय, परमेश्वर की आज्ञा-पालन पर उसका आग्रह अवश्य है| जीव और देह के अंतर्द्वंद के विषय में अपने अंदर की बेचैनी का वर्णन करते हुए, जिन्हें वे परस्पर धुर विरोधी भी मानते हैं, बाइबिल के प्रचारक पौल के अनुसार '...मुझे अपने शारीर के अंगों में एक दूसरा नियम जो मेरी इन्द्रियों में सक्रिय होकर, मेरी बुद्धि के नियम के विरुद्ध युद्ध करता हुआ दिखाई पड़ता रहता है, और जो मेरे अंगों के अंदर काम करता हुआ मुझे पाप के नियम का गुलाम बना देता है'| परमेश्वर को पाने और अपने ही देह के माध्यम से उसमें रमने की संभावना को आमंत्रित भी करना, इस पाप का सबसे वीभत्स रूप माना गया है| बुतपरस्ती अर्थात, मिथ्या देवों की खुदी हुई आकृति के रूप में भी पूजा करना, एक और वर्जना है, यद्यपि कैथलिक मतावलंबी तथा ईस्टर्न ऑर्थोडॉक्सी चर्च के सदस्य, कई वर्षों पहले से ही होली फॅमिली एवं संतों की प्रतिकृतियों का सम्मान करने के आदी हो गए थे| योग के पश्चिमी साधकों को बुतपरस्ती में लिप्त होने के संदेह का सामना करना, उनकी सबसे बड़ी बाधाओं में से एक है| बुत के समान ही देह की पूजा की कल्पना से भारतीय योग की संबद्धता स्थापित करने के कारण, यहूदी-योग और ईसाई-योग जैसे वर्ण-संकर पैदा हुए हैं| बुतपरस्ती के भय से मुक्त किये हुए योग का दावा, ऐसा वर्ण-संकर योग प्रस्तुत करता है| इसलिए, यह विचार कि मन्त्र हमारे अंदर परमेश्वर का आवाहन करते हैं, शक की नज़र से तथा अपवित्र करने वाले जाने जाते हैं| चूंकि बाईबिल अथवा तोराह द्वारा मन्त्र मान्य नहीं हैं, वे एक सच्चे परमेश्वर के प्रति प्रार्थना नहीं हो सकते, इसलिए वे झूठे देवों के प्रति ही प्रार्थना होते होंगे|

(२) भारतीय धार्मिक परम्पराएं : भारतीय धार्मिक संप्रदाय ऐतिहासिक घटनाओं पर उसी प्रकार अथवा उसी

हद तक निर्भर नहीं किया करते जैसा कि यहूदी-ईसाई मजहब किया करते हैं| धार्मिक परम्पराओं के अनुसार कोई भी व्यक्ति पापी के रूप में पैदा नहीं होता, यद्यपि वह अपने अतीत के संस्कारों के समुच्चय के दबाव में तो रहता है, जो उसे अपने मूल स्वरुप से अनजान बनाये हुए रखता है| सौभाग्यवश, उसके अंदर एक ऐसी जन्मजात नैष्ठिक क्षमता है कि वह इस दशा से पार जाकर, अपने आप को उससे उबार सके तथा इसी जीवन में वह अपनी साधना से सत्-चित-आनंद के अनुभव की एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले, जिसे एक साधक से दूसरे साधक तक भी पहुंचाया जा सकता है| स्वानुभूत-ज्ञान का पथ मानव-मात्र के दैवी होने के उदात्त विचार से आरंभ होता है और यह मानवता को भारत का महानतम अनुदान है| परमेश्वर को इस प्रकार जानने को ही लेखक, 'सन्निहित ज्ञान' कहते हैं| भारतीय धार्मिक परम्पराएं यह इंगित करतीं हैं कि सत्य कहीं सुदूर स्वर्ग में स्थित नहीं है, जिसे पैगम्बरों के दुर्लभ हस्तक्षेप से ही प्राप्त किया जा सकता है, वरन वह वस्तुतः हर व्यक्ति, पशु, पौधे, तथा यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मतम कण के अविभाजित सत् (अस्तित्व) में भी निवास करता है| हिंदू धर्म जैसी ईश्वर को मानने वाली परम्पराएँ, मानवता को परमेश्वर की ही विभूति मानते हैं, जबकि बौद्ध तथा जैन धर्म जैसी ईश्वर को न मानने वाली परम्पराएं, हर व्यक्ति की आत्म-बोधी चेतना को सर्वोच्च्च यथार्थ मानते हैं| लेखक के मत को संक्षेप में व्यक्त करते हुए रिचर्ड लेनॉय आगे कहते हैं कि - 'इस्लामी और यहूदी-ईसाई परम्पराओं के विपरीत, हिंदू अथवा बौद्ध धर्म की परम्पराओं में इतिहास का कोई आध्यात्मिक महत्व नहीं है| मानव का सर्वोच्च आदर्श है जीवन-मुक्त होना – ऐसी अवस्था जिसमें व्यक्ति काल से परे हो जाता है|'

सभी भारतीय परम्पराएं परम सत्य को जानने के इस गैर-ऐतिहासिक तथा सीधे पथ को निर्विवाद रूप से अंगीकार करते हैं और वे यहूदी-ईसाई अर्थों में एक चरम ऐतिहासिक एवं सामूहिक पहचान विकसित कर ज्ञान, मान्यताओं एवं अनुभूति को संचारित नहीं करते हैं| इसके बजाय हर साधक, नए सिरे से सर्वोच्च सत्य को खोजने की अपने ही अंदर की क्षमता के सहारे कभी भी, यहीं और अभी अपनी सतत साधना आरंभ कर सकता है| श्री अरविन्द ने पाया था कि उनके पूर्व के आध्यात्मिक अनुभवों की पुष्टि, उनके वेद पढ़ने के उपरांत स्पष्ट रूप से हुई थी| इस प्रकार भारतीय धार्मिक साधकों के लिए परमेश्वर को सदेह जानने की ईसा की अनुभूति स्वीकार्य है, क्यूंकि यह सभी को हो सकती है, केवल ईसा को ही हो, ऐसा नहीं|

पश्चिमी श्रोताओं हेतु धर्म की व्याख्या - कुछ उत्तेजक प्रश्न :

प्रश्न जो लेखक ने पूछे: यदी सब इतिहास, आप की पहुँच के बाहर हो जाय या उसे झुठला दिया जाय तो, आपके मजहबी जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? परमेश्वर से ऐतिहासिक घटनाओं के माध्यम से प्राप्त ज्ञान के बिना, यदी आपको अपना पूरा जीवन जीना पड़े, तो आप क्या करेंगे? किस प्राधिकार के अंतर्गत आप अपना मजहबी जीवन जीएंगे, यदी जी पाए तो? दूसरे शब्दों में, क्या आप आध्यात्मिक सत्य को अपने से, बिना इन ऐतिहासिक श्रोतों पर निर्भर हुए खोज पाएंगे, या फिर क्या आप इनके उपलब्ध न होने से खो से जायेंगे? लेखक प्रश्न करते हैं कि क्यूँ उनकी मजहबी निष्ठा इतनी अनिश्चित और कुछ ऐतिहासिक घटनाओं पर इस हद तक और इतना निर्भर करती है? क्या संगठन-आधारित यहूदी-ईसाई मजहब इतिहास के बंधक हैं? यहूदीयों और ईसायों का विद्वत एवं सुसंस्कृत समूह, जो इस प्रकार के प्रश्नों को पूछे जाने के लिए तय्यार नहीं था, असुरक्षित अनुभव करने लगा और बहुत ही उद्द्वेलित हो गया और कुछ तो हतप्रभ ही रह गए|

धर्म और प्रत्यक्ष अनुभव : लेखक ने अपने श्रोताओं को समझाया कि उनका धर्म बिना ऐतिहासिक

दस्तावेजों के बचा रह सकता है| भारतीय धार्मिक परम्पराओं में, प्रत्यक्ष अनुभूति एवं व्यक्ति द्वारा स्वयं प्रयोगाश्रित परिक्षण के लिए जो सक्रिय आतंरिक और बाह्य साधना आवश्यक होती है, वह ज्ञान प्राप्ति और सत्य की खोज हेतु महत्वपूर्ण होते हैं| इसलिए आत्मानुशासन पर ध्यान केंद्रित रहता है, किसी काल्पनिक सिद्धांत एवं उसी के अनुसरण हेतु कतई नहीं| देवता कोई ऐतिहासिक व्यक्तियों की तरह सदा नहीं देखे जाते हैं, वरन सर्वव्यापी गुरुत्वाकर्षण की शक्ति जैसी अनैतिहासिक शक्तियों के रूप में जाने जाते हैं| अंततः, बिना बीती घटनाओं पर निर्भर हुए, जीवन का लक्ष्य है - आत्म-ज्ञान प्राप्त करना|

इतिहास में सम्मिलित है तथ्यात्मक विवरण - मिथक तथा कुछ और : भारतीय धार्मिक परम्पराएं इतिहास के माध्यम से भूतकाल से वास्ता रखते हैं, जो एक ऐसा संस्कृत शब्द है जिसकी व्याख्या सामान्यतः 'मिथक' अथवा केवल 'आख्यान' के रूप में की जाती है| आम तौर पर पश्चिम में भगवान श्रीकृष्ण और श्रीराम की कथाएँ 'मिथक' के रूप में जानी जाती हैं, जो साधारण पश्चिमी बोलचाल की भाषा में ऐसी घटनाओं को इंगित करता है जिनके बारे में ऐसा प्रचलित हो कि वे काल्पनिक, अजीबो-गरीब, यहाँ तक अंध-विश्वास से प्रेरित भी, रूढ़िवादी या झूठी, तथा जो पश्चिमी मान्यता में तो सच्चाई से बिलकुल परे हैं| यूरोपीय विद्वानों ने, यूनानी-रोमन गौरव-ग्रंथों एवं ईसाइयत से पूर्व के यूरोप का अध्ययन कर, उपनिवेशों एवं गैर-ईसाई संस्कृतियों के विषय में इस प्रकार का नियामक वर्गीकरण कर दिया|

इतिहास : धार्मिक सभ्यताओं में भूतकाल को केवल मिथक अथवा तथाकथित हुबहू तथ्यात्मक विवरणों के द्वारा ही व्यक्त नहीं किया जाता| यथोचित रूप से, इतिहास इन वर्गों के स्थान पर होता है, जिसमें पूर्वपक्ष (भूतकालीन आख्यान) के साथ जीवन के सभी पक्षों के विषय में सन्देश भी सम्मिलित रहते हैं| इतिहास का सरोकार सत्य से है, केवल तथ्यात्मक विवरण से ही नहीं| इतिहास के साथ पुराण कहलाने वाले आख्यान, तथ्यात्मक विवरण के साथ साथ मिथक भी होते रहे हैं, और उनके बहु-आयामी दृष्टिकोण, उन्हें मात्र तथ्यात्मक विवरणों से कहीं अधिक उदार बना देते हैं| सत्य तथ्यात्मक विवरणों पर निर्भर नहीं है; बल्कि, तथ्यों का विवरण सत्य की अभिव्यक्ति हैं| अपनी परंपरा की भूतकालीन घटनाओं के तथ्यात्मक विवरणों को अधिकांश हिंदू लचीले दृष्टिकोण से देखते हैं| इतिहास मूलतः, बहुलतावादी भी होता है: उसके सामान्यतः, कई संस्करण होते हैं| किसी आख्यान का संशोधित संस्करण, अन्य सभी संस्करणों को निरस्त नहीं कर देता| श्री अरविन्द जो श्रीकृष्ण की ऐतिहसिकता को मान्यता देते हैं, स्पष्ट करते हैं कि उस ऐतिहसिकता पर कुछ भी निर्भर नहीं करता, क्यूंकि भारतीय आख्यानों की शाश्वत प्रकृति में किसी भी विवरण को संदर्भित घटनाओं के भौतिक स्थान अथवा काल से जोड़ कर नहीं देखा जाता है|

पूर्व की ओर पश्चिमी एकटक लगी दृष्टि : इतिहास के बहुआयामी प्रस्तुतीकरण से न निपट पाने के कारण, पश्चिमी विद्वान उसे मिथक और केवल मिथक के रूप में ही वर्गीकृत करते हैं, जबकि उनके अपने मिथकों के विवरण यथार्थ घटनाओं की तरह प्रस्तुत होते हैं| भारतीय आध्यात्मिक शास्त्रों की व्याख्या, यहूदी तथा ईसाई मजहबी कथाओं की व्याख्या में प्रयुक्त विधियों से बिलकुल भिन्न होती है| जैसे उदाहरणार्थ, पश्चिम का अध्ययन समाजशास्त्रीय विधियों एवं यंत्रों द्वारा होता है, जबकि तथाकथित आदिम समाजों का अध्ययन प्रधानतः, नृविज्ञान एवं उनके लोक साहित्य के माध्यम से किया जाता है; यूरोपीय तथा अमरीकी सामाजिक इकाइयों को सदा समुदाय के रूप में बताया जाता है, जनजातियों के रूप में कभी नहीं|

भारतीय विस्तारवाद उस तरह से कभी संचालित नहीं हुआ, जैसा पश्चिम ने किया| इतिहास और तथ्यात्मक

विवरण के आपसी सम्बन्ध कहीं ज्यादा जटिल और परत-दर-परतदार होते हैं, और परिवर्तन के प्रति भारत की पारंपरिक दृष्टि कभी भी भूतकाल के चरणों का विनाश अथवा अवमूल्यन करने की नहीं रही| जबकि, सामान्यतः पश्चिम के मजहबी और लौकिक हिंसात्मक इतिहास में, उनके विकास-क्रम में बड़े परिवर्तन हेतु, हर स्तर के बाद पूर्व स्तर को धमकी-भरा माना जाता है और उसे या तो पूरी तरह से पचाया, अथवा क्रूरता से उसे नष्ट किया जाता है|

रामायण और महाभारत : इतिहास, तथ्यात्मक विवरण और मिथक दोनों को ही समेट लेता है| भारतीय महाकाव्य महाभारत और रामायण इतिहास की इस शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिनके सेकडों संस्करणों में उन्हें बार बार सुनाया गया है| भारतीय कथावाचन की परंपरा वस्तुतः संवादात्मक है: न केवल अपना व्याख्यान आरंभ करने से पहले कथावाचक श्रोताओं से पूछता है कि वे क्या सुनना चाहेंगे, बल्कि पूरी कथा के दौरान उनसे संवाद जारी रखता है| ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने विश्व-इतिहास के अपने संस्करण में भारत के बहुमुखी इतिहास को निम्न-स्तर पर स्थापित करने हेतु उसका तथ्यात्मक अनुवाद कर दिया| इतिहासकार रणजीत गुहा कहते हैं कि 'पश्चिम में राज्य और इतिहास-लेखन के बीच विश्व-इतिहास-नाम का रणनैतिक गठबंधन स्थापित हुआ...उस रणनीति के लिए भूतकाल पर नियंत्रण आवश्यक है...अधिक महत्व की बात यह है कि उनके अपने कथानक को इतिहास के रूप में दिखाना था, जिसके लिए उसे नागरिक समाज से हटा कर राज्याधीन कर दिया गया'| भारतीय लोगों ने भूल से धीरे-धीरे विश्व-इतिहास में इस प्रकार की अपनी प्रविष्टि को शराफत में स्वीकार कर लिया, जबकि इसके फलस्वरूप पैदा हुए भ्रम को ज्ञान-मीमांसक हिंसा का एक जघन्य कृत्य ही कहा जायेगा|

स्वानुभूत ज्ञान की परिणति : अपनी पुस्तक 'आतंरिक क्रांति' में एक प्रमुख बौद्ध विद्वान रॉबर्ट थ्रूमन, लिखते हैं कि पश्चिम में एक मिथक बहुप्रचलित है कि 'ठोस' विज्ञान ही निष्पक्ष हो सकता है, कि आतंरिक शिक्षण की विधाएं व्यक्तिपरक होती हैं, बहुत हुआ तो वे सदाशयी भी हो सकती हैं, और निकृष्टतम स्थिति में तो वे अंधविश्वासी तथा स्वेच्छाचारी होती हैं| ऐसी विधाएं 'पर-लोकवादी' होतीं हैं जो इस भौतिक/सामाजिक विश्व में हमको अच्छी अनुभूति देने के अलावा, वे कोई लाभ नहीं पहुंचातीं| वे बताते हैं कि भौतिक पदार्थमय इस विश्व का अध्ययन करने तक ही, पश्चिमी वैज्ञानिक सीमित रह गए हैं और गलती से वे इसे ही निष्पक्षता मान बैठे हैं| धार्मिक साधकों ने प्राचीन काल से ही दृश्य/दृष्टा, संज्ञान-बोध/अवधारणा, देह/मन-बुद्धि, दूसरा/स्वयं, समाज/व्यक्ति, अनुभव/धारणा, अर्थ-निर्धारण/प्रतीक, आदि के मध्य दूसरी ओ़र, परस्पर निर्भरता को पहचाना और उनके द्वारा प्रयोग में लाई गई विधा का वैज्ञनिक होने का दावा, पूर्णतः तर्क-संगत भी है| आतंरिक विज्ञानों का विकास, निरीक्षण, प्रयोग, समीक्षात्मक अनुसन्धान एवं वाद-विवाद के माध्यम से प्राचीन काल से ही दूसरी ओ़र, विधिवत किया गया और उनके विषय में यहूदी-ईसाई मजहबी धारणाओं के विज्ञान-विरोधी होने जैसा कोई भ्रम नहीं ही होना चाहिए| इस प्रकार, बाहरी और आतंरिक विज्ञान, दोनों ही विधाएँ विधिवत रूप से संचालित होने पर वे वैज्ञानिक हो सकतीं हैं| भारत, तिब्बत और चीन ने अपने अपने आतंरिक विज्ञानों का लंबा इतिहास होने के बावजूद, कभी भी बाहरी विज्ञानों को नकारा नहीं है, क्यूंकि उनके वहां धर्म और विज्ञान के बीच, पश्चिमी मजहब और विज्ञान में वर्षों चलने वाले संघर्ष जैसी स्थिति कभी थी ही नहीं|

प्रत्यक्ष - अनुभववाद के रूप में अध्यात्मविद्या : यह सतत सूक्ष्म निरीक्षण और विवेचनात्मक तर्क की विधि

से प्राप्त, आत्मा एवं पर्यावरण का सुनियोजित एवं व्यवस्थित ज्ञान है| यह मानती है कि, समग्र यथार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव है, जो सुख प्राप्ति हेतु जीवन और मरण की स्थितियों पर अधिकार देगा| अध्यात्मविद्या, आगे यह दावा करती है कि इस ज्ञान को दूसरों को सिखाया भी जा सकता है| यह विद्या किसी सिद्धांत अथवा मत पर अंध-विश्वास करने की मांग नहीं करती, वरन साधकों को प्रेरित करती है कि वे अपने विश्वासों तथा विचारों के गुण-दोषों की समीक्षा स्वयं करें| ऐसा, सतत आतंरिक निरीक्षण की विधियों द्वारा किया जाता है, जिसके लिए अपना मन ही एक यंत्र के रूप में आतंरिक जानकारी प्राप्त करने हेतु उपयोग में लाया जाता है| इस विज्ञान की ऐसी विधियों की प्रक्रियाओं का प्रभावी होना, उनके ऐतिहासिक प्रमाणों अथवा उनके परिणामों की अनुकूलता पर निर्भर नहीं करता| इस लिए, आवश्यक है कि, प्रथमतः, प्रगति के निरीक्षण हेतु, मन-बुद्धि को एक सूक्ष्म यंत्र की तरह लगातार कुछ समय के लिए साधा जाय तथा ध्यान की स्थिरता और समग्रता को अधिक से अधिक बढ़ाया जाय|

पहली खोज जो इस प्रकार के आतंरिक निरीक्षण से होती है, वह यह है कि हमारे मस्तिष्क की ध्वनियों में से कोई भी, मूलतः हमारी नहीं होती| अधिकांश भारतीय धार्मिक पद्यतियां यह स्वीकार करती हैं कि हमारे अंदर, अपनी तथा विश्व की जो ग़लतफ़हमियां गहराई से घर कर चुकीं हैं, वह अविद्या (मिथ्या ज्ञान) है| व्यक्ति की पसंद उसके संस्कारों के सृजन को सहारा देतीं हैं, जो फिर उसकी अभिज्ञता (cognition) हेतु, छलनी का काम करतीं हैं| परिणामतः दृश्य संसार काल्पनिक या मायावी बन जाता है| यह सिद्धांत, समान आधार-रूप से हिंदू, बौद्ध तथा जैन परमपराओं को स्वीकार्य है, जो अपनी अपनी पद्यतियों से इन संस्कारों के पार जाने के अपने अपने तरीकों का प्रतिपादन करते रहते हैं| अतः, निर्धारित अनुक्रम इस प्रकार से हैः विकल्प/कर्म – संस्कार/अवशेष – नाम/रूप – वासना/लत| इसलिए शांत, स्थिर अंतःकरण एक स्वच्छ प्रयोगशाला के समान है| मध्यस्थ-बिना, प्रत्यक्ष-ज्ञान के मौलिक होने के उसके दावे का, पश्चिमी सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक आग्रहयुक्त-ऐतिहासिक विश्लेषण एवं नृविज्ञान द्वारा, विखंडन हो ही नहीं सकता| ऐसी पद्यतियों को सही मायनों में रोगों का उपचार व तात्विक अटकलों से दूर माना जा सकता है, और वास्तविक स्वाधीनता और सुख के लिए आवश्यक भी, बजाय मजहबों के रूप में ही केवल इन्हें माना जाय|

भारतीय धर्म-परम्पराओं में प्राधिकार : जहाँ इतिहास-केन्द्रिक दृष्टिकोण पवित्र ऐतिहासिक दस्तावेजों की केन्द्रीयता का आग्रह करता है, वहीं भारतीय धर्मों की दृष्टि आध्यात्मिक प्रमाण के रूप में, जीवंत सिद्ध पुरुषों (ऋषि, मुनि अथवा श्रमण, गुरु आदि) को स्वीकार करती है, जिसके कारण धार्मिक परम्पराओं में ये ही सिद्ध पुरुष, केन्द्रीय होते हैं| इसका अर्थ है, सामान्यतः सीधे अंतर्वैयक्तिक संपर्क से ही संपन्न, अमूर्त-सत्य का स्वानुभूत विधियों द्वारा आध्यात्मिक-सम्प्रेषण (गुरु-शिष्य सम्बन्ध), जो पश्चिमी बाहरी विधि द्वारा, शास्त्र-अध्ययन पर आग्रह-युक्त सम्प्रेषण से, भिन्न है| किसी अवतार-विशेष (या बोधिसत्व) के प्रति किसी की रूचि होने का अर्थ यह नहीं होता है कि अन्य अवतारों को त्याग दिया गया हो और न ही उन अन्य अवतारों को खतरे के रूप में देखा जाता है| इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि, यह आग्रह कभी नहीं रहा कि इतिहास के तथा-कथित एकमात्र सही संस्करण को, मानवीय गवाही पर मान्य करार दे दिया जाय, जिसके आधार पर बाइबिल-आधारित अध्ययनों को तन्मयता से चलाने में परिश्रम होता रहा है| न ही सिख-धर्म पैगम्बरों पर निर्भर करता है| उसके संस्थापक, श्री गुरु नानकदेव ने कभी भी इश्वर या अवतार या इश्वर-पुत्र अथवा इश्वर के पैगम्बर होने का दावा नहीं किया| उन्होंने पुरातन धर्म-निष्ठा, सिद्धांत अथवा किसी प्रकार के ऐतिहासिक आख्यानों का सहारा लिए बिना, भक्ति के मार्ग से परमेश्वर को पाने का दावा किया था| उनकी

शिक्षा के अनुसार इसी प्रकार की उपलब्धि हर इंसान को, भक्ति के मार्ग से हो सकती है| पश्चिमी दर्शन से बिलकुल भिन्न, जिसमें योग अथवा ध्यान के द्वारा चेतना में आतंरिक परिवर्तन की मांग नहीं की जाती और केवल तर्क का आधार रहता है, भारतीय दार्शनिक पद्यतियां आध्यात्मिक साधनाओं से गहराई से जुड़ी हुई हैं| बहु-निन्दित मनुस्मृति (पश्चिम में सामान्यतः कहे जाने वाले 'मनु के कानून') भी कभी, सभी पर लागू इश्वरी कानून की तरह नहीं मानी गई, जिसे बाद में कानून के रूप में ब्रिटिश शासकों द्वारा लागू किया गया, केवल यह दिखाने के लिए कि भारतीयों को उपनिवेशकों द्वारा 'हिंदू कानून' (जो कानून उन्हीं कि देख-रेख में तय्यार किया गया था) के प्रावधानों के अनुसार शासित किया जाता है| मनुस्मृति स्पष्तः यह वक्तव्य देती है कि वह सार्वलौकिक अथवा सार्वभौमिक नहीं है| मनुस्मृति का ऐसा उदार दृष्टिकोण होते हुए भी, पश्चिम द्वारा भारतीय धार्मिक रूढ़िवाद नाम (या असहिष्णुता या अलगाववाद) जैसी प्रचलित की गई धारणाएँ, सरासर विरोधिभासी है| आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के स्वाभाविक लचीलेपन पर प्रायः नैतिक सापेक्षवाद का आरोप लगता रहता है| जो हो, भारतीय धार्मिक परम्पराओं में तमस के प्रभाव में होने वाली नैतिक ढिलाई और सापेक्षवाद के दोष से बचाव के, कई व्यवस्थित प्रावधान विद्यमान हैं|

धार्मिक परम्पराओं में सम्प्रेषण : स्वानुभूति के बिना यदि ज्ञान की चर्चा केवल उसे कुछ वैचारिक वर्गों में सिकोड़ कर की जायगी, तो वह कदाचित देहमुक्त-ज्ञान कहलायेगा| स्वानुभूति से अर्जित ज्ञान मात्र दार्शनिक प्रस्तावों तथा नाम-रूप की भाषाई सीमाओं से बंधे बुद्धिवाद से कहीं श्रेष्ठ माना गया है, जिसके कारण ऋषियों और योगियों का स्थान पंडितों (पुरोहितों) से ऊपर माना गया है| उदाहरण के लिए, मन्त्रों का सस्वर उच्चारण अथवा शास्त्रों का सस्वर पाठ करना, इसी लिए हिंदू और बौद्ध धर्मों में बच्चों को सिखाया जाता है, जो उनके अर्थ समझने की क्षमता भी नहीं रखते, क्यूंकि यह माना जाता है कि बिना उन मन्त्रों की सही समझ के भी, उनका सस्वर पाठ प्रभावकारी होता है| अपने कम्पनों के विशेष गुणों के कारण, ये मन्त्र सीधे ही बच्चों के शरीर पर और गहराई में उनकी सभी कोशिकाओं और उस से भी सूक्ष्म स्तर तक अपना विशेष प्रभाव डालते हैं, और इस प्रकार बचपन से ही आत्मसात हो कर गहराई से परिवर्तनकारी बन जाते हैं|

प्राचीन शास्त्रों को कंठस्थ कर उनका सस्वर पाठ करने की परंपरा, इनके लिखित रूप को पढकर सीखने से कई मायनो में ज्यादा सही है, क्यूंकि उच्चारण में त्रुटि तो तुरंत पकड़ी जा सकती है, जबकी लिखत त्रुटि कई शताब्दियों तक भी, बिना पकड़े रह सकती है| यद्यपि लेखन ने संचार में क्रान्तिकारी सुधार अवश्य किया है, भारतीय परंपरा प्राचीन काल से ही यह मानती आ रही है (जो पश्चिम में लंबे समय से गायब है) कि उच्चारित शब्द आध्यात्मिक उर्जा और वक्ता की उपस्थिति से लबालब भरा रहता है| उच्चारित शब्द पर इस प्रकार का आग्रह यह समझने में सहायक है कि, क्यूँ गुरु का सामीप्य लाभकारी होता है| पश्चिम के संगीतकार और नर्तक इस स्वानुभूति-युक्त परंपरा को कलाकारों तथा प्रशंसकों के दृष्टिकोण से भी सराहते हैं| इस प्रकार की सामूहिक स्वानुभूति एक समुदाय को भी होती है, जैसा उदाहरण के लिए, रामायण की मूल कथा के बार बार सालाना मंचन के अवसर पर रामलीलाओं में होती है| अन्य संस्कृतियों से जब जब भारतीय धार्मिक परम्पराएँ संपर्क में आतीं हैं, वे सदा स्थानीय आध्यात्मिक परंपराओं तथा उनके गुरुओं का आदर करतीं रहीं हैं|

पश्चिम में कई लोगों को ऐसी धारणा है कि भारतीय धार्मिक सभ्यताएं जड़ हैं तथा उनमें परिवर्तन एवं स्वयमेव पुनर्निर्माण अथवा पुनर्जागरण की क्षमता नहीं है - कि बाद के रहस्योद्घाटन और गहन चिंतन के आधार पर भी, उनका शास्त्रोक्त ज्ञान समय समय पर संशोधित नहीं होता| किसी हद तक ऐसी धारणा

धार्मिक परम्पराओं के इतिहास-केंद्रीक न होने के कारण भी बनी है| एक और स्पष्टीकरण यह है कि, भारतीय धर्मों में दृष्टिकोणों में परिवर्तन शायद ही कभी हिंसात्मक हुए हों, अधिक्रमण एवं विस्थापन पर आधारित परिवर्तन तो कभी भी नहीं हुए, और न ही इनके अलग युग, विशिष्टकाल अथवा समयावधि (कम से कम पश्चिमी अर्थ में) कभी हुए| भारतीय धर्म परम्पराओं के लंबे इतिहास की मार्के की बात यह है कि, उसमें नवाचार शायद ही कभी झगड़ालू रहा हो| पश्चिम में जो पूर्व-आधुनिक, आधुनिक एवं उत्तर-आधुनिक काल कहलाते हैं, उनके सह-अस्तित्व को भारत एक साथ कायम रखता आया है| कई उत्कृष्ट धार्मिक साधकों ने तो अपने जीवन के सबसे मूल्यवान वर्षों को ध्यान की विधाओं को परिशुद्ध करने में बिताया| इस से स्पष्ट होता है कि, धार्मिक सभ्यताओं में सामान्यतः बाचाल केन्द्रीय प्राधिकार तंत्र क्यूँ नहीं हुआ करते, किस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक तथा अन्य बौद्धिक चुनौतियों को उनके लोग कुशलता से निभाते हैं, और क्यूँ उनमें अपेक्षाकृत अन्य लोगों पर नियंत्रण करने अथवा अपना ढोल पिटवाने की राजनैतिक इच्छा-शक्ति का अभाव रहता है|

इन विरोधाभासों के सारांश की तालिका के लिए **विभिन्नता**' के पृष्ठ १२१ तथा 'Being Different' के पृष्ठ १०० को देखें|

#२: अभिन्न एकता बनाम कृत्रिम एकता

सभी भारतीय धार्मिक संप्रदाय यह धारणा रखते हुए अपने विचार प्रस्तुत करते हैं, कि अंततः पूरा ब्रह्माण्ड एकीकृत समष्टि है, जिसके अंतर्गत सम्पूर्ण अस्तित्व तथा उसकी सापेक्षिक अभिव्यक्तियाँ परस्पर गहन रूप से जुड़ी हुई हैं| यद्यपि साधारण लोग इस एकीकृत समष्टि की अनुभूति कठिनाई से पर पाते हैं, धर्म की विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं में ऐसा अनुभव पाने हेतु पर्याप्त संसाधन निहित हैं, जो इस एकता की अभिव्यक्ति को समझने के लिए यथेष्ट मौलिकता एवं छूट प्रदान करते हैं| चूँकि आधारभूत अन्तर्निहित एकता का भाव मजबूत है, इस लिए बिना अराजकता की आशंका के, साधनाओं और दर्शनों के विभिन्न विकल्पों में से चयन हेतु अधिक विविधता सदा विद्यमान रहती है| ,

पश्चिमी विश्व-दर्शन, चाहे मजहबी हो अथवा लौकिक, इसके ठीक विपरीत विचार से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं: ब्रह्माण्ड मूलतः, अलग अलग अवयवों या पृथक तत्वों का जमावड़ा है जो, एक ओ़र यहूदी-ईसाई ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों के परम प्रभुत्व से तनाव में है तो, दूसरी ओ़र उस ज्ञान से तनाव में है जो अति द्वैतवादी आणविक यूनानी तत्वज्ञान और अरस्तुवादी द्विविध तर्क से पैदा हुआ - एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी विश्व-दर्शन, यहूदी रहस्योद्घाटन और यूनानी तर्क के बीच मूलतः, एक परस्पर अंतर्विरुद्ध एवं अवास्तविक मिश्रण बन बैठा है| पश्चिमी दर्शन और उससे उपजे विज्ञान (कुछ विशेषताओं के साथ) तथा उनके मजहब, दोनों को ही एकता ढूंडने की या उसका आविष्कार करने की जरुरत है, जिसे पाने में उन्हें व्यग्रता और कठिनाई का सामना करना पड़ता है|

अध्याय ३ – आधारभूत एकता और कृत्रिम एकता

भारतीय धार्मिक परम्पराएँ परमेश्वर के साथ समस्त भौतिक एवं अभौतिक यथार्थ की अभिन्नता कि तत्वमीमांसा से ओ़त-प्रोत हैं - जिसे 'आधारभूत एकता' के संबोधन से अब संदर्भित किया जा रहा है| उनके मुख्य सरोकार हैं - प्रकट रूप से पृथक इकाइयां कैसे और क्यूँ इस आधारभूत एकत्व में से उभरतीं हैं| सिद्धांतों तथा क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण भिन्नताएँ होते हुए भी, सभी भारतीय धार्मिक संप्रदाय उस एकत्व की प्राप्ति हेतु, विस्तारपूर्वक एवं विधिवत अपने अपने सिद्धांत तथा प्रक्रियाएँ प्रस्तुत करते हुए इस अन्तर्निहित एकत्व पर अपने विश्वास को साझा करते हैं, जिसे पश्चिमी मजहबों में उलट दिया जाता है|

पश्चिमी मजहबों का दृष्टिकोण पदार्थ, जीवन तथा परमेश्वर में परस्पर पृथकता से आरंभ होता है| यहूदी-ईसाई मजहबों का आध्यात्मिक लक्ष्य उस एकत्व या समन्वय को प्राप्त करना होता है जो पहले से अस्तित्व में है ही नहीं| अन्तर्निहित पृथकता उनकी पूर्वधारण है: परमेश्वर और मानव पाप के कारण पृथक हैं और एक दूसरे से बिकुल पृथक हैं, यह ब्रह्माण्ड आणविक कणों का जमावड़ा है, आदि| इसके अलावा, ऐतिहासिक तथा पैगम्बरी रहस्योद्घाटन पर निर्भरता, मानव को भूतकाल से बांध देता है, और मुक्ति का लोभ उसे भविष्य की ओ़र मोड़े रहता है, जिसके कारण बर्तमान में वह असमंजस में डोलता रहता है| ऐसा विश्व-दर्शन एकत्व हासिल तो कर सकता है, लेकिन वह एकता अनिश्चित, सूक्ष्म और बहुत हुआ तो बनावटी ही होती है| इसके अतिरिक्त, प्रायः उसे हासिल करने हेतु ताकत तथा प्रभुत्व प्रयोग में लाया जाता है| लेखक इसे 'कृत्रिम एकता' के रूप में संदर्भित करते हैं|

पश्चिमी प्रबोध की आणविक और टुकड़ों-मय प्रकृति तथा उसके एकतरफा तर्क के फलस्वरूप, पश्चिमी दर्शन और पश्चिमी वैज्ञानिक परंपरा, अक्सर विखंडन पर उतर आया करती है| विखंडन, समष्टि को समझाने हेतु उसके टुकड़ों की व्याख्या से आरंभ होता है| व्यवहार में ऐसी प्रक्रिया अधिकतर कामगार होती है, और इसी लिए आधुनिक विज्ञान ने हमारे जीवन में इस कामगार नियम के उपयोग से महत्वपूर्ण सुविधाएँ जोड़ी हैं| इब्राहिमी परम्पराओं की प्रवृत्ति अपना ध्यान बाहर की ओ़र केंद्रित रखने की होती है: जबकि, धार्मिक परम्पराएं अंदर की ओ़र भी देखतीं हैं| ऐतिहासिक निर्देशों की ओ़र दृष्टि गढ़ाए रखने और चेतना की संरचनाओं को खोजने की भारतीयों की जैसी प्रवृत्ति में, जमीन-आसमान का अंतर है|

आधारभूत एकता और कृत्रिम एकता की परिभाषा : आधारभूत एकता का अर्थ है कि, अंततोगत्वा केवल समष्टि ही अस्तित्व में है; समष्टि जिनसे निर्मित है, उनका अस्तित्व सापेक्ष मात्र है| इस आधारभूत एकता की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए जिस उपमा का उपयोग हुआ है वह है, एक मुस्कराहट का चहरे से जैसा सम्बन्ध| एक मुस्कराहट का अस्तित्व चहरे से किसी प्रकार भी पृथक हो नहीं सकता; वह चहरे पर ही आश्रित और निर्भर भी रहती है| जो हो, चहरे का अस्तित्व स्वतंत्र है, चाहे वह वह मुस्कराए या नहीं| हर इकाई का सम्बन्ध, ब्रह्मांडीय समष्टि से इसी प्रकार का है: एक ही दिशा में है यह निर्भरता| ,

कृत्रिम एकता उसके एक दूसरे से पृथक, जो अवयव अस्तित्व में हैं, से आरंभ होती है| उदाहरणार्थ, एक मोटर गाड़ी के कल-पुर्जों का अस्तित्व अलग अलग है, जब तक कि उन्हें जोड़ कर पूरी गाड़ी तय्यार न कर ली जाय| ऐसे ही, पारंपरिक भौतिक शास्त्र में ब्रह्माण्ड को पृथक प्राथमिक कणों के जमावड़े के रूप में देखा गया है| समस्या यह बन जाती है कि उन बिखरे कणों को बाहरी शक्ति से एकजुट किया जाय तो कैसे (बजाय इसके कि संबद्धता अंदर से ढूँढी जाय)| ऐसे चिंतन से आरंभ होने के कारण, यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि, यहूदी-ईसाई मजहबी प्रार्थनाएँ ऐसा अभ्यास करतीं हैं जो अंतस के बाहर की ओ़र केंद्रित होतीं हैं क्यूंकि इन परम्पराओं के अनुसार, सबका अहम स्वतंत्र है और सबसे पृथक भी|

भारतीय धर्म संप्रदायों में इस आधारभूत एकता की, दृश्य संसार में नित्य-प्रति होने वाले विविधतापूर्ण कोलाहल भरे दृग्विषयों (phenomena) से सूक्ष्म सबंधों की प्रकृति में गंभीर भिन्नताएँ होने के बावजूद, उस एकता के विषय में तीन समान अभिलक्षण दिखाई पड़ते हैं: क – प्रकट रूप से पृथक दिखाई पड़ने वाली सभी इकाइयों का, इस एकत्व से स्वतंत्र, वास्तव में अस्तित्व नहीं है| ख – यह समष्टि पूर्ण रूप से स्वतंत्र और अविभाज्य है| ग – इस आधारभूत एकत्व में स्वयं के अंदर से ही सब दृग्विषयों को उत्पन्न करने की क्षमता सम्मिलित है| इसके अलावा, सभी धार्मिक परम्पराओं के अनुसार, सभी परस्पर सम्बंधित इकाइयां स्थिर नहीं हैं, बल्कि निरंतर परिवर्तनशील अवस्था में रहतीं हैं| सब कुछ - सकल पदार्थ, भावना, मानवता, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर कण तक, प्रत्येक अलग इकाई, काल का प्रत्येक क्षण और आकाश का प्रत्येक घटक- सतत् रूप से परिवर्तित हो रहे हैं|

हिंदू धर्म में, सृष्टि स्वयं ही चक्रीय है और परमेश्वर से पृथक नहीं है| चूंकि परमेश्वर अंशतः ब्रह्माण्ड रूप में अभिव्यक्त है (केवल ब्रह्माण्ड में ही नहीं), पूरा ब्रह्माण्ड बोधमय और अंततः, एक है| इस प्रकार, परमेश्वर ब्रह्माण्ड के साथ एक है, फिर भी स्वयं उससे पृथक भी| यह दृष्टिकोण एकेश्वरवाद से भिन्न है, जिसके अनुसार एक इश्वर ऊपर से पूरे विश्व को संचालित करता है, तथा इसके विपरीत पश्चिम में समझे जाने वाले

सर्वेश्वरवाद से भी भिन्न है, जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड को ही इश्वर माना जाता है, बिना किसी बाहरी परमेश्वर के| भारतीय धार्मिक ईश्वरवाद इन दोनों अवधारणाओं को अपने में सम्मिलित किये हुए है| ब्रह्म और ब्रह्म की अभिव्यक्तियां, अवियोज्य हैं| विविधता में एकता इस प्रकार, शाश्वत यथार्थ की प्रकृति और उसका तात्विक स्वभाव भी है| इस विचार को हिंदू धर्म से पाकर, पश्चिमी दार्शनिकों ने इसे एक नया नाम दिया है - panentheism, pantheism जिसे न समझा जाय|

बौद्ध धर्म की, यद्यपि आधारभूत एकत्व की समझ वेदांत से बिलकुल भिन्न है, फिर भी वह भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्य की हर चीज़ में मूलतः परस्पर संबद्धता और अन्तरनिर्भरता को मानता है, चाहे वह भौतिक हो अथवा अभौतिक| हर क्षणिक अस्तित्व हर दूसरे क्षणिक अस्तित्व पर, एक अंतर्सम्बद्ध-जाल के रूप में सदा निर्भर रहता है| वास्तविकता इस प्रकार, निरंतर परिवर्तनशील विश्व के अंतर्सम्बद्ध स्वभाव के एकत्व से पोषित होती है, जिसका अस्थायित्व ही उसकी विविधता को आकार देता है| आध्यात्मिक और लौकिक में किसी प्रकार के विरोधाभास का अनुभव, भारतीय धार्मिक परम्पराएं नहीं करते हैं| भारतीय धार्मिक परम्पराओं के विद्वान ऑर्गन, स्पष्ट करते हैं: 'देवत्व की हिंदू संकल्पना, देवत्व की यहूदी-ईसाई अवधारणा से बिलकुल विपरीत है, जहाँ परमेश्वर-मानव के बीच के अंतर में किसी धुंधलेपन की कोई संभावना नहीं है| एक पश्चिमी परमेश्वर जो है वही है, और वह जो है उससे भिन्न तो वह हो ही नहीं सकता| उनके अनुसार, एक बदलता हुआ देवता कोई देवता नहीं है| लेकिन भारत में एक देवता का देवत्व बढ़ भी सकता है और छोटा भी हो सकता है| इस प्रकार, देवत्व की अवधारणा के श्रेणीकरण का यह पहलू, सभी जैव रूपों के एकीकरण का एक ढांचा, हिंदू धर्म को प्रदान करता है| जैन और बौद्ध धर्मों को, किसी हद तक, इसी विचार का वैकल्पिक व्यावहारिक स्वरुप प्रस्तुत करते हुए समझा जा सकता है'|

यहूदी-ईसाई मजहबों में एकत्व और विविधता के बीच के सम्बन्ध इससे बिलकुल भिन्न हैं और वे सभी भौतिक तथा अभौतिक इकाइयों को अपना पृथक चरम अस्तित्व लिए हुए देखते हैं, जो केवल इश्वर के आदेश से ही बाहर से जुड़े हुए हैं| ईसाइयत की कई व्याख्याओं में होली स्पिरिट को परमेश्वर का सर्वव्यापक रूप तो माना गया है, यद्यपि होली स्पिरिट की अवधारण कभी भी एक केन्द्रीय विचार के रूप में प्रस्तुत नहीं हुई है; इसके अलावा, ईसाइयत ने कभी भी भलाई (परमेश्वर) और बुराई (शैतान), या पवित्र और अपवित्र के बीच उनकी सोच के अनुसार विद्यमान पृथकता में, सामंजस्य स्थापित नहीं किया|

वैश्विक तत्वज्ञान की अवधारणाओं में तुलना हेतु - **विभिन्नता** का पृष्ठ १३६ और 'Being Different' का पृष्ठ ११२ देखें|

इंद्रजाल : आधारभूत एकत्व का वैचारिक सांचा इंद्रजाल की उपमा में परिलक्षित होता है, जो कई भारतीय धार्मिक परम्पराओं में समान रूप से विद्यमान है| ऐसा कहा जाता है कि वैदिक देवता इंद्र के पास एक अपरिमित जाल है, जिसकी हर गांठ में एक इस प्रकार की मणि विद्यमान है, जिसमें अन्य सब गांठों में स्थित प्रत्येक मणि प्रतिबिंबित होती है; कोई भी मणि स्वयं पृथक अस्तित्व में नहीं है| अपने में सब मणियों के प्रतिबिम्ब से, प्रत्येक मणि विशिष्ट है| इंद्रजाल एक ऐसे ब्रह्माण्ड का प्रतीक है जिसमें प्रत्येक इकाई की अन्य सब इकाइयों से अनंत प्रकार की निर्भरताएँ एवं सम्बन्ध हैं, जो सब परस्पर गुंथे हुए हैं तथा जिनका पृथक अस्तित्व केवल इस सामूहिक वास्तविकता के सन्दर्भ में है| इंद्रजाल के प्रारंभिक विचार का

उल्लेख अथर्व वेद (चार वेदों में एक) में मिलता है, जहाँ विश्व को महान शक्र या इंद्र के जाल के रूप में देखा गया है| इंद्रजाल की उपमा यह भी संकेत करती है कि एक सर्वव्यापी बोधात्मक सृजनशीलता है, जो समस्त जीव-जगत में समाई हुई है| सर्वत्र पृथकता का आभास माया है| इस अपरिमित जाल की हर एक मणि द्वारा अन्य सब मणियों के प्रकाश को प्रतिबिंबित करने की क्षमता को, क्रमशः-सोचने वाली बुद्धि से समझना वास्तव में कठिन है, लेकिन तत्व-मीमांसा तथा विज्ञान के क्षेत्र में जो हाल के वर्षों में कई बहुआयामी सिद्धांत उभरे हैं, उनके लिए अग्रगामी विचार के रूप में इस अपरिमित जाल की संकल्पना सटीक साबित हुई है| इस प्रकार, आज जिस गुण को होलोग्राम में मुख्य माना गया है, उसका एक उत्कृष्ट लक्षण इंद्रजाल ने आधुनिक विज्ञान से बहुत समय पहले प्रस्तुत कर दिया था, जो यह है कि होलोग्राम के हर अंश में उसकी समग्र सूचना होती है| भौतिक ब्रह्माण्ड की होलोग्राफिक-प्रकृति विषयक मिशेल टालबोट के हाल के सिद्धांत हेतु, उन्हें इस उपमा ने स्पष्टतया प्रेरणा दी| प्रणाली-विशेष के अवयवों में परस्पर जटिल संबंध, जो भौतिक, प्रतीकात्मक या वैचारिक हो सकते हैं, जिस पर डगलस हौफ्स्टेडर ने कार्य किया, को भी इंद्रजाल की संकल्पना ने ही प्रेरणा दी| मानवीय मस्तिष्क के अंदर की अंतर्सम्बद्धता के नमूनों तथा अंतर्जाल की कार्य-पद्यति के प्रतिरूपों को भी इंद्रजाल की संकल्पना ने प्रभावित किया है| आधारभूत एकत्व की भारतीय धार्मिक भावना को भगवद्गीता के अध्याय ७ में संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि पूरी सृष्टि उनका ही स्वत्त है (भगवद्गीता ७.४ – ७.१३)| गीता से बहुत पहले, वेदों ने केवल एक शाश्वत यथार्थ के कई परतों और स्तरों में होने का वर्णन किया| समय के अंतराल से, बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर खिसकने के पश्चिमी विद्वानों के दावों जैसी कोई बात इन शास्त्रों में नहीं हुई, जो कभी तो इन्हें केवल एकेश्वरवादी के रूप में देखते अथवा उनकी विविधता को बहुदेववादी के रूप में देखते, और इस प्रकार सदा उन्हें एक दूसरे के स्थान पर ही देखते रहे, कभी भी एक साथ नहीं|

' बन्धु ' - सुसंगतता का सिद्धांत : बन्धु एक ऐसी संकल्पना है जिसका उपयोग यह स्पष्ट करता है कि समष्टि तथा उसके अवयव, किस प्रकार आधारभूत एकत्व में आपस में जुड़े रहते हैं| सूक्ष्म और लोकोत्तर जगत एक ओर हैं तो उनसे संगति करता दूसरी ओर दृष्टिगोचर जगत है| बन्धु शब्द, सूक्ष्म जगत और ब्रह्माण्ड के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करता है, जहाँ सूक्ष्म जगत ब्रह्माण्ड का नक्शा है, और विरोधाभासी तरीके से ये एक दुसरे को प्रतिबिंबित करते हैं| सृष्टि की हर इकाई अपने में पूरी सृष्टि को समाये हुए है| आधारभूत एकत्व का यह विचार भारतीय धार्मिक व्यवस्था के सभी पहलुओं में प्रतिबिंबित होता है, जिनमें सम्मिलित हैं, उनका दर्शन, विज्ञान, विविध संप्रदाय, नीतिशास्त्र, आध्यात्मिकता, कला, संगीत, नृत्यकला, शिक्षा, साहित्य, मौखिक आख्यान, राजनीति, विवाह, अर्थशास्त्र और सामाजिक संरचनाएँ| सभी कलाएँ तथा विज्ञान, अंतर्संबंधित हैं और उन्हें मानवीय प्रकृति को विविध प्रकार से अपने को अभिव्यक्त करते हुए देखा जा सकता है, जो स्वयं उस ब्रह्माण्ड के एकत्व से उपजी है| इनमें से कोई एक क्षेत्र सभी दूसरों को अपने में समाये हुए प्रतिबिंबित करता है|

काल, प्रवाह तथा चक्रीय कार्य-कारण : भारतीय धार्मिक परम्पराएं, अनुभवाश्रित यथार्थ को क्षणिक तथा निरंतर परिवर्तनशील मानते हैं, जिसमें भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के आरपार के भेद धुंधला जाते हैं| दृश्य जगत की सब घटनाओं को प्रभावित करने वाली इस परिवर्तनशील अवस्था में, पुनरावृत होने वाली आकृतियाँ स्थिर और स्वतंत्र ' वस्तुएँ ' जैसी दिखाई पड़ने लगतीं हैं, यद्यपि वे सीमित बुद्धि की मायावी रचनाएँ मात्र हैं| विद्वान ट्रॉय विल्सन ऑर्गन यह विचार रखते हैं कि, भारतीय धार्मिक दर्शन को समझने में

पश्चिमियों को कठिनाई इसलिए होती है क्यूँकि 'पश्चिमी अनिवार्यता-वाद के स्थिर वर्गीकरण' के सहारे वे, 'भारतीय दर्शन की गत्यात्मक विशेषताओं' पर बहस करने हेतु अपने को अक्षम पाते हैं| पश्चिमी मानस घटनाओं को स्थान-काल में स्थिर देखता है, अर्थात तथ्यात्मकता के रूप में, जबकि धार्मिक परम्पराएँ भूत के अधिक लचीले आख्यान, इतिहास पर सहजता अनुभव करते हैं| पश्चिम, परम सिद्धांतों को ढूंडता है जिन्हें वे नियंत्रित कर सकते हैं| पश्चिमी तत्वमीमांसा से भिन्न, जिसमें स्थान-काल को अभौतिक इकाइयों के रूप में माना गया है, भारतीय तत्वमीमांसा में स्थान-काल 'धातु' (पदार्थ) हैं और वे अन्य वस्तुओं को भी प्रभावित करते हैं| इसलिए, रामानुजम निष्कर्ष निकालते हैं कि 'भारतीय "आध्यात्मिक" हैं, का उल्टा विचार है कि वे वास्तव में "भौतिक बुद्धिवादी" हैं, जो पश्चिमी अर्थों में भौतिकवाद नहीं होगा, क्यूंकि 'पदार्थ' अंततः ब्रह्म है या भगवान की अभिव्यक्ति और इसलिए आध्यात्मिकता से अभिन्न'|

धर्म के तर्कशास्त्र में मध्य की भूमिका सम्मिलित है : कुल मिलाकर, अनिश्चितता की स्थिति में भारतीय धर्मों के दार्शनिक विद्वान, सहजता अनुभव करते रहे हैं और एक तार्किक सिद्धांत के रूप में भी वे अनिश्चितता को प्रभावी तरीके से प्रयोग में लाते हैं| यदि पश्चिम की तरफ मुड़ें तो हम देखेंगे कि किस प्रकार अरस्तु का प्रसिद्ध "अपवर्जित-मध्य का नियम" – "यह या वह ही" की दलील देता रहा है| पूर्वात्त्य दर्शन में, इससे कहीं और अधिक जटिल, लेकिन उतनी ही प्रखर समझ वाले तर्क प्रस्तुत किये गए हैं| जैनियों ने उदाहरण के लिए, 'जो एकमात्र निष्कर्ष न हो' के विस्तृत सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है, अर्थात, 'अनेक-अंत-वाद' नाम से जाने गए सिद्धांत को, जो उनके मुख्य तथा मूलभूत सिद्धांतों का आधार भी रहा है| जैन धर्म की इस प्रणाली की शाखाओं में से एक 'स्याद-वाद' कहलाता है, जिस में सही और गलत के अलावा और भी निष्कर्ष होते हैं|

भारतीय बौद्ध दार्शनिकों में से एक सबसे विशिष्ट विद्वान नागार्जुन, ने भी एक परिष्कृत तर्क विकसित किया था, और आदि शंकर ने वेदांत के अनुसार यह बताया था की हमारी समझ सदा अधूरी ही रहती है, जो त्रुटिपूर्ण होकर संशोधित होती रहती है| वेद का वक्तव्य, सत्य एक है लेकिन उसे सद्विप्र अलग अलग नामों से व्यक्त करते हैं, में भी दूसरों के ज्ञान को सम्मान देने की बात कही गई है, जो अंततः, सत्य सिद्ध भी हो सकती है| भारती तर्कशास्त्र में कई प्रतिद्वंदी संप्रदाय हैं, जिसके कारण भारतीय धर्म परम्पराओं में एकमात्र निर्णायक ज्ञान मीमांसा का अभाव रहा है| (परिशिष्ट क लचीले तर्कशास्त्र के विषय में हिंदू, बौद्ध, और जैन दृष्टिकोणओं को स्पष्ट करता है|)

संस्कृत की यह एक विशेषता है कि बजाय केवल सही/गलत के सीधे विकल्पों के मुकाबले, उसमें किसी प्रस्ताव से भिन्न होने के छः अलग अलग तरीके हैं| संस्कृत के उपसर्ग 'अ' द्वारा कम से कम सात प्रकार की भिन्नताएँ व्यक्त की जा सकतीं हैं जैसेः असहमति; अनुमान; अनुपस्थिति; असादृश्य या भिन्नता (जिसमें कुछ समानता भी हो सकती है); अवनति/कटोती/कमी; प्रतिकूल/अंतर्विरोध; और बुराइ/अयोग्यता/अनुपयुक्तता/अभद्रता/तमस| दूसरी ओर द्विविध, पश्चिमी, हाँ/ना का तर्क, अपेक्षा करता है कि सब उत्तर, इन दोनों में से एक ही हो सकता है, अर्थात, बिना विकल्प के, अनिश्चितता या अपरिमित या असीम बिलकुल नहीं|

वैज्ञानिक समस्याओं के परिक्षण हेतु भारतीय दृष्टिकोण की विधि का आरंभ, प्रयोगाश्रित निरीक्षणों द्वारा कोई

व्यावहारिक नुस्खा निर्धारित करते हुए होता है, और यह नुस्खा सदा भविष्य के प्रमाणों अथवा पैमाइशों द्वारा गलत भी साबित हो सकता है| यह एक क्रियाशील परिकल्पना के रूप में अधिक होती है जिसे भावी अधिक कुशल पैमाइश द्वारा सुधारा जाता रहता है| किसी नुस्खे को अंतिम या निर्णायक नहीं माना जाता, और ऐसे सभी निष्कर्ष निरीक्षक की चेतना के स्तर पर निर्भर होते हुए अस्थाई और तुलनात्मक या सापेक्षिक होते हैं| इस प्रयोगाश्रित विधि से आतंरिक विज्ञानों में निरीक्षण करने हेतु, योगी द्वारा एक प्रयोगशाला के रूप में अपने शरीर का प्रयोग किया जाता है| इस प्रयोगाश्रित विधि से भिन्न है यहूदी-ईसाई दृष्टिकोण, जिसमें अंतिम सिद्धांत के प्रतिपादन हेतु विरोधी विधियों में आपसी टकराव या तर्क से निष्कर्ष निकालने की विशेषता अधिक होती है|

एक भौतिक विज्ञानी रौड्डम नरसिम्हा, भारतीय प्रयोगाश्रित पद्यति को व्यावहारिक मानते हैं| वे लिखते हैं: 'यूनानी दृष्टिकोण को स्वयं-सिद्ध-प्रतिरूप निर्माण करने की विधि माना जा सकता है (अर्थात, स्वयं-सिद्ध-सूक्ति या प्रतिरूप>तार्किक निष्कर्ष या परिणाम>अंतिम या निर्णायक प्रमेय); और भारतीय दृष्टिकोण को सांचा/नक्शा ढूंढने वाला और प्रणाली या विधि-रचयिता (अर्थात, निरीक्षण>प्रणाली>विधिमान्य निष्कर्ष)| भारतीय दृष्टिकोण स्वयं-सिद्ध-सूक्तियों और प्रतिरूपों को गहरे संशय से देखते हुए भी बड़ी पटुता प्रदर्शित करता है...'| पुनःनिरीक्षणोंपरांत सत्यापन करना इस प्रकार, भारतीय दृष्टिकोण की विशेषता रही है| भौतिक विज्ञान और गणित के क्वांटम यांत्रिकी-आधारित दृगविषयों (phenomena in quantum mechanics) की हाल की खोजें जो, अनिश्चितता पर निर्भर करतीं हैं, कठोर अरस्तुवादी प्रतिरूप के मुकाबले भारतीय धर्म-आधारित तर्क से कहीं अधिक सुसंगत पाई गईं हैं|

ऐरविन श्रोएडिंगर (१८८७-१९६१) की जीवनी के लेखक, वौल्टर मुअर के अनुसार, उनकी वेदांत की समझ और उनके शोध कार्य में एक स्पष्ट नैरंतर्य है: '...१९२५ में, भौतिक विज्ञान का विश्व-दृश्य एक बड़े यंत्र का प्रतिरूप था जो बना, परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने वाले वियोज्य-कणों के मिलने से| श्रोएडिंगर और हाइसंबर्ग तथा उनके अनुगामियों ने, अगले कुछ वर्षों में संभाव्य-आयामों वाले परस्परारूढ़ अवियोज्य तरंगों (based on superimposed inseparable waves of probability amplitudes) पर आधारित विश्व का नक्शा तय्यार किया| यह विश्व-दृश्य पूरी तरह से वेदांत के उद्घोष 'एकमेव सत्' की संकल्पना से सुसंगत है'| निरीक्षित के आकार की अभिज्ञता में निरीक्षक (अर्थात, उसकी चेतना) की अहम भूमिका है, यह विचार आधुनिक विज्ञान के दर्शन को वेदांत का एक विवेचनात्मक अनुदान है| आइनस्टाइन और टैगौर के बीच मूल पस्तक में संदर्भित वार्ता में हुई असहमति का श्रोत भी यह बिंदु ही था| वेदांत के इस सिद्धात ने, इस प्रकार पश्चिम में अभिज्ञता के अध्ययनों के फलते-फूलते क्षेत्र को प्रक्षेपित किया| नियामक तर्क की सीमाएँ जो अनिश्चितता-आधारित हैं, के कई और धर्म-आधारित अवधारणाएँ विद्यमान हैं| जब, १९३० के दशक में गौडेल के प्रमेय ने यह दर्शाया कि निगमनात्मक तर्क की प्रणाली किस प्रकार अधूरी ही हो सकती है, तब परंपरागत भारतीय तर्क-शास्त्रियों को सही माना गया| यहाँ यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि भारतीयों ने क्वांटम यांत्रिकी या गौडेल के प्रमेय की परिकल्पना विकसित करली हो अथवा उन का परीक्षण किया हो, लेकिन यह तथ्य कि आधुनिक खोजें धर्म-आधारित दर्शनों से सुसंगत हैं तथा इन दर्शनों का आध्यात्मिक झुकाव ऐसी खोजों के निहितार्थ और विस्तार हेतु खुला हुआ है, मार्के की बात अवश्य है| तत्वमीमांसा, भौतिक विज्ञान और मानविकी जैसे विषयों में, विविध दृष्टिकोणों तथा अनिश्चित परिणामों सहित जटिलताओं से निपटने की क्षमता, भारतीय धार्मिक उदारता की बुनियाद रही है|

इसमें कोई अचम्भा नहीं, कि धर्म-आधारित दर्शनों में सत्य का सही अनुमान लगाने हेतु, तकनीक के रूप में पश्चिम के मुकाबले, निषेध का उपयोग अधिक है| सत्य का सही विवरण सहज वर्गों के परे हो सकता है, इस पर जोर देने हेतु निषेध व्यक्त करने की पूर्व-वर्णित सात विधियों में से किसी एक के मुकाबले 'हाँ' को ख़ारिज किया जाता है| परम यथार्थ, मात्र पदार्थ नहीं, न सीमित ही, तथा पूरी तरह लोकातीत भी नहीं है - उसकी समस्याओं के समाधान हेतु, अद्वैत पर जोर देना अधिक पसंद किया जाता है, बजाय एकत्व के| निषेध की विधि का विस्तार नैतिकता तक भी होता है| 'मैं आपको हानि नहीं पहुँचाना चाहता हूँ' कहने में अधिक विस्तृत संभावनाएँ हैं बजाय कि 'मैं आपकी सहायता करना चाहता हूँ' में, और इसी प्रकार 'मैं आप से नफरत नहीं करता हूँ' कहने में 'मैं आपको ह्रदय से लगाता हूँ' अधिक व्यक्त करता है| इसी प्रकार, बौद्ध तथा हिंदू धर्मों में, करुणा, दान आदि से अहिंसा का अर्थ अधिक व्यापक है| तथ्यों की तरह जब विचार स्वीकृति-योग्य नहीं रह जाते, तब धर्म में उनका बहिष्कार करने की प्रवृति नहीं है, वरन उन्हें उपमाओं की तरह व्यक्त किया जाता रहता है| इसी कारण, हिंदू अपनी संस्कृति तथा शास्त्रों के बौद्धिक पक्षों को आसानी से ह्रदयंगम करते हैं|

परिदृश्य तथा सापेक्ष ज्ञान : धर्म-आधारित दर्शन एवं प्रणालियां अभिव्यक्ति की सीमाएँ खोजतीं हैं और जोर देतीं हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का सत्य उसकी अभिज्ञता, पूर्व-अवस्था और इस तथा पूर्व जन्मों के संस्कारों, और व्यक्ति के परिदृश्य के भी सापेक्ष ही हो सकता है, तथा पूर्ण सत्य किसी एक परिदृश्य से बिलकुल परे है| दर्शन शब्द संस्कृत में फिलौसौफि के निकटतम है, जिसका अर्थ 'दृश्य' है, जैसा कि कोण-विशेष से किसी वस्तु को देखना| इसलिए, प्रत्येक दर्शन एक ही दृश्य हो सकता है तथा उसे अन्य परिदृश्यों के सही होने की संभावना को स्वीकार करना होगा| इस वजह से यह अपेक्षित है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोणों में विविधता होगी और वे भिन्न होंगे ही| परम यथार्थ केवल उस अवस्था को इंगित करती है जो अंतिम है तथा जिसके पार कोई सोच संभव नहीं है और इसी लिए उसे 'अव्यक्त' कहा गया है| परम स्वाधीनता का अर्थ है समस्त (सीमित) दृश्यों से मुक्ति| किसी चरम भाव को लेकर यथार्थ की संकल्पना व्यक्त करने का परिणाम, असहिष्णुता, स्वार्थपरता, व निष्काम-वृत्ति से देख सकने की अक्षमता में परिवर्तित हो ही जाती है| जबकि, विभिन्न दृष्टाओं की संज्ञानात्मक विविधता भी उनकी क्षमताओं और दिलचस्पियों से संगती रखतीं हैं|

श्री अरविन्द स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार परिदृश्यों की यह विविधता ब्रह्माण्ड की विविधता का हिस्सा है| चूँकि यथार्थ को बहुपरतीय तथा बहुमुखी दिखाया जाता है, इसलिए कई पश्चिमी विद्वान, बिना समझे ही कि, विभिन्न देवगण उसी एकमेव सत् के विविध पहलू हैं, हिंदू धर्म को गलती से बहुदेववादी करार दे देते हैं| यद्यपि परम यथार्थ, निराकार और कल्पनातीत है, सामान्य व्यक्तियों का, देवताओं जैसे आकर्षक प्रतिनिधियों की सहायता से, उस परम यथार्थ तक, कम से कम पहुँचना संभव तो हो जाता है| चूँकि सब विवरण सापेक्षिक हैं, नर या नारी, दोनों नर और नारी, ना नर ना नारी, तथा बिलकुल लिंगातीत के रूप में परमेश्वर व्यक्त किये जा सकते हैं| केवल भारतीय धर्म परम्पराओं में ही देवी के रूप में परमेश्वर को व्यक्त करने को लेकर, इतना विस्तृत शास्त्रीय ज्ञान उपलब्ध है|

इस सापेक्षता के सन्दर्भ में देखने पर, कर्म-कांड को एक प्रकार के पवित्र नाट्य-शाला के रूप में देखा जा सकता है| इसमें सभी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रयोग में आतीं हैं: दृश्य वस्तुएँ, ध्वनियां, सुगंधें, पूजा कर्म, स्पर्श, तथा स्वाद| पश्चिमी लोग ऐसे कर्म-कांडों के विस्तृत, बहुमुखी विषय-वस्तु से अपरिचित होने के कारण उन्हें

बहुदेववादी अव्यवस्था के रूप में देखते हैं| भारतीय धार्मिक परम्पराओं में सभी विचारधाराएँ, किसी हद तक, कर्मकांड में क्रियान्वित हो जातीं हैं| परमेश्वर का प्रतिनिधित्व करने की हमारी क्षमता के विषय में, तर्क की सीमा तक धार्मिक संशय रहता है| परम और सापेक्ष, दोनों सत्यों का स्थान जीवन में है, सत्य जो सापेक्ष है वह हमें सांसारिक वास्तविकताओं को समझने और उनका धर्म के अनुसार सामना करने में सहायक होता है|

स्वायत्तता और वैचारिक बहुलता : एक अभीप्सा जो पश्चिम तथा पूर्व दोनों में समान है, वह है सीमितताओं और बंधनों से मुक्ति| पश्चिमी परम्पराएँ, इस संसार में स्वाधीनता के सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आयामों पर आग्रह किया करते हैं, और उससे बाद की परिस्थिति में पाप तथा मृत्यु से मुक्ति की| पश्चिमी परिदृश्य भारतीय धार्मिक परम्पराओं में अकर्मण्यता, भाग्यवाद तथा हताशा देखता है| जब हम इस दृष्टि को पलटते हैं तो, एका-एक भिन्न चित्र उभरता है| भारतीय धार्मिक परम्पराएँ अपने को पश्चिम की कुंठाओं से मुक्त देखते हैं, पाप और अपराध-बोध के भार के तले दबे अपने को नहीं देखते, तथा न वे किसी संस्थागत प्राधिकारी, ऐतिहासिक पूर्व-दृष्टान्त अथवा मजहबी सीमाओं के अधीन बंधे हुए रहते हैं|

स्वतः अपने अंदर से सीखने की स्वायत्तता : अपनी आध्यात्मिक साधनाओं के माध्यम से हर व्यक्ति के अंदर जीवंत ऋषि, 'जिन', 'अरहत' अथवा 'बोधिसत्व' बनने की क्षमता होने के विषय में, भारतीय धार्मिक परम्पराएँ, यहूदी-ईसाई मजहबों से मूलतः भिन्न हैं| ये अवस्थाएँ कई शास्त्रों की जन्मदात्री हैं| इस प्रकार आध्यात्मिक सिद्ध, अनंत विधियों से नई नई परख खोज सकते हैं| आध्यात्मिक अनुभव इस प्रकार पिछले अनुभव को विस्थापित करने वाली न होकर, वास्तव में संचयी परम्परा है, यद्यपि कुछ परम्पराएँ कालान्तर में स्वतः लुप्त भी हो सकतीं हैं| समय के अंतराल से परम्पराएँ बदलती हैं, फिर भी उनका नैरंतर्य सहजता से प्राचीन, आधुनिक तथा उत्तर-आधुनिक सोच को अपने में समाये रखने और एक दूसरे को गंभीरता से प्रभावित और पोषित करने हेतु उन्हे सक्षम बनाता है, तथा सत्य का अनुसन्धान, नियमित आध्यात्मिक साधना से विलग न होने पाए, और उनका परपीड़ा-मुक्ति और प्रकाश पहुँचाने का कार्य भी जारी रहने को सुनिश्चित करता है| मौलिक बदलाव करने वाली इस आध्यात्मिक परम्परा की प्राथमिकता, मात्र सूचना को वरीयता देने वाली पश्चिमी परम्परा से बिलकुल भिन्न है|

भारतीय धर्म-ज्ञान 'श्रुति' (अपौरुषेय ज्ञान), 'मत' (राय या परिकल्पना), 'वाद' (दलील या दृष्टि), 'सिद्धांत' (पुष्ट परिकल्पना), 'शास्त्र' (विचार व्यवस्था अथवा हमें मार्गदर्शन प्रदान करने हेतु प्रमाणित दृष्टिकोण), 'स्मृति' (ऐतिहासिक दस्तावेज) में वर्गीकृत है| लेखक से जब पूछा गया की हिंदू बाइबिल कौन सी पुस्तक है, तब उनका उत्तर था की, 'हिंदुओं की बाइबिल एक पुस्तकालय है, केवल एक किताब नहीं'|

पूर्वाग्रहों एवं कर्मों से मुक्ति : विविध विधियों के उपयोग द्वारा मनुष्यों को कर्म-बंधनों से अंततः मुक्ति दिलाना, धर्म का मुख्य अभिप्राय है| इसके परिणामस्वरूप साधक सत्-चित-आनंद की अवस्था अथवा 'एकत्व-चेतना' प्राप्त करता है, जिसमें साधक, सहज ही वही कर्म करने हेतु प्रेरित होता है जो उसके आस-पास की स्थितियों में आवश्यक हो, जिस अवस्था में उसके नए कर्म संचित नहीं होने पाते, क्यूंकि कर्मों को करने में अहम भाव की अनुपस्थिति के कारण उसमें कर्तापन का भाव नहीं रह जाता है और भूतकाल के कर्म धीरे धीरे क्षीण होकर समाप्त हो जाते हैं| बौद्ध धर्म में इसके समतुल्य अवस्था में साधक को यह बोध होता है कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य जैसी कोई भी भौतिक अथवा बौधिक इकाई, जो अलग दिखना शेष

रह सकती हो, नहीं रह जाती और वह उन 'वस्तुओं' से मुक्त हो चूका है, जिनका कोई अस्तित्व अंततः नहीं है, एवं जिनके पीछे भागने से ही 'दुःख' अवश्य प्राप्त होता है| बौद्ध धर्म की ज्ञानातीत अवस्था में सापेक्ष संसार से साधक मुक्ति अनुभव करता है, जिससे उसको सदेह निर्वाण प्राप्त हो जाता है| कर्म-सिद्धांत भाग्यवाद नहीं है, जो किसी बाहरी दबाव से व्यक्ति की स्वाधीनता छीन लेता हो, जैसी कि गलत पश्चिमी सोच है| वास्तव में, कर्म-सिद्धांत बिना किसी फल की इच्छा किये, निष्काम कर्म करने की एक सतत चुनौती है|

पूर्वकालीन तथ्यों तथा संस्थागत सत्ता-तंत्र से मुक्ति : हिंदू परम्पराओं में चेतना की जो अवस्था ईसा ने प्राप्त की थी, वह हम में से हर व्यक्ति पा सकता है और यह किसी देवता-विशेष या किसी ऐतिहासिक घटना या संस्था पर विश्वास करने पर निर्भर नहीं है| इस अवस्था को पाने के लिए हमें मरना भी अवाश्यक नहीं है; इस संसार में जीवित रह कर भी हम इसे पा सकते हैं, जैसा कि संभवतः, ईसा ने किया था| यहाँ कोई गिरजाघर, मठाधीश अथवा केन्द्रीय सत्ता नहीं है| बल्कि, सदियों के दौरान अनगिनत अवतार, भविष्य-वक्ता और संत हुए हैं तथा नई नई आद्यात्मिक विधियाँ आतीं गईं जिन्होंने परम्पराओं को नए-नए अर्थ देकर जीवित रक्खा| कोई सत्ता किसी को हिंदू नहीं घोषित करती है| कोई सत्ता किसी को हिंदू धर्म से बहिष्कृत नहीं कर सकता|

सामान्यतः यह माना जाता रहा है कि पश्चिमी लोग, व्यक्तिपरक होते हैं जबकि एशियाई ऐसे नहीं होते, फिर भी, गौर से देखने पर वास्तविकता इसके विपरीत ही प्रतीत होगी| पश्चिमी लोग जो यहूदी या ईसाई परंपराओं को मानते हैं, स्पष्ट रूप से अधिकतर मजहबी संगठनों के औपचारिक सदस्य हुआ करते हैं, जो किसी समरूपता-विशेष पर जोर देते हैं और व्यक्तिगत विसम्मति एवं मजहबी प्रथाओं के निजीकरण को, गुस्से से देखा जाता है| इसके विपरीत, भारतीय धर्म परम्पराओं में मूलतः, व्यक्तिवाद विद्यमान है और यही कारण है कि उनके अंदर विविध विश्व-दृष्टियाँ, चलन, पथ, छवियाँ तथा उप-संस्कृतियां सहमति से रहतीं रहीं हैं| धार्मिक क्रियाओं, विश्वासों एवं अर्चनाओं में बौद्धिक तर्क-वितर्क का कभी अभाव नहीं रहा|

स्वधर्म - के निर्धारण में स्वायत्तता : अधिकांश भारतीय परम्पराओं में, हर व्यक्ति का इस संसार में, अपना एक विशिष्ट 'स्वधर्म' या उद्देश्य होता है| इनका निर्धारण व्यक्ति-विशेष के भूतकाल के कर्मों तथा गुणों के आधार, पर उसके स्वभाव और उसके इस जीवन में विद्यमान सन्दर्भ के अनुसार होता है| बौद्धों में 'उपाय' (कुशल साधन) की संकल्पना होती है, जिसके आधार पर भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों में 'परस्पर एक दूसरे का सम्मान' होता है| जैन परंपराएँ भी वादों तथा सार्वभौमिक परम निर्देशों से जैनियों को संरक्षण प्रदान करतीं रहतीं हैं| परम एकमेव सत्य को पाने का केवल एक ही सही मार्ग है, ऐसी सोच के नीचे दबे हुए न होने के कारण भारतीय धर्म विभिन्न दिशाओं में फलते-फूलते रहे हैं|

इष्ट-देव चयन में स्वायत्तता : हिंदू धर्म में अवतार परमेश्वर के मूर्त रूप होते हैं| अवतार वैसी ही भूमिका निभाते हैं जैसी ईसाइयत में ईसा निभाते हैं, लेकिन कोई भी अवतार एक मात्र नहीं माना जाता, और हिंदू धर्म में अन्य परम्पराओं के ऐसे दावों को सहर्ष स्वीकार किया जाता है| इसलिए, ईसा को हिंदू दिव्य, अर्थात इश्वर के एक अवतार के रूप में सरलता से मान सकते हैं, लेकिन केवल एक-मात्र अवतार के रूप में नहीं| पृथ्वी को भी पवित्र भूगोल के सन्दर्भ में देवी के रूप में परमेश्वर माना जाता है; उदाहरण के लिए, गंगा नदी को गंगा देवी के शरीर के रूप में उनकी अभिव्यक्ति माना जाता है| हर व्यक्ति के आधात्मिक-ध्यान के

केन्द्रीय-करण हेतु इष्ट-देव की अवधारणा अपनाई जाती है, और यह एक प्रकार के विशिष्ट व्यक्तिगत एकेश्वरवाद के रूप में माना जा सकता है, जो सार्वभौमिक मानकर दूसरों पर थोपा नहीं जाता| प्रतिमा के अलावा, इष्ट-देव कोई एक मन्त्र भी हो सकता है| एक हिंदू यह कहेगा कि ईसाईयों ने अपने इष्ट-देव ईसा को उठाकर, सार्वभौमिक बना दिया है, और तदोपरांत आक्रामक धर्मान्तरण के माध्यम से व्यवस्थित रूप से उन्होंने अपनी भौतिक शक्ति को आगे बढ़ाया है|

धार्मिक परंपरा का स्वर्णिम सूत्र : पश्चिमी स्वर्णिम नियम कहता है कि हमें दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा हम उनसे चाहते हैं| निस्संदेह यह दो दलों के बीच, होने वाले आदान-प्रदान के आशावादी परिणाम हासिल करने का सबसे व्यावहारिक तरीका है| उससे ऊँचे स्तर पर, यहूदी-ईसाई मजहबों का आग्रह यह है कि, अपने पड़ोसी को वैसे ही प्यार करो जैसे हम अपने आप को करते हैं| धार्मिक परंपराओं का स्वर्णिम सूत्र इसे एक कदम आगे ले जाता है और कहता है कि, अंततः 'दूसरा' कोई है ही नहीं, क्यूंकि आत्मा के स्तर पर प्रत्येक दूसरा वही है जो में हूँ| इसका आधार पूर्व-संदर्भित आधारभूत-एकता की तत्वमीमांसा में है| त्वचा के वर्ण के प्रति भी धार्मिक सभ्यताओं में यह समभाव की वृत्ति पैठी हुई है| हिंदुओं के दो प्रमुख अवतार भगवान श्रीकृष्ण तथा भगवान श्रीराम सांवले वर्ण के हैं, और देवी के सबसे लोकप्रिय रूप, काली तथा दुर्गा का वर्ण भी सांवला है| भगवान विष्णु भी सांवले - 'मेघ वर्ण' – बादलों के रंग के हैं, तथा देवाधिदेव महादेव शिव भी| वर्ण पर महाभारत ग्रन्थ में एक स्पष्ट संवाद है जो उसे वरीयता देने की अपेक्षा व्यक्ति के गुणों को वरीयता देने का आग्रह करता है|
इस स्वर्णिम सूत्र की भावना के अनुरूप, भारतीय धार्मिक-व्यवहार के साधकों को ऐसी सलाह कभी नहीं दी जाती कि वे अन्य मतों के अनुयायियों के विश्वासों में दखल दें - जिसे अक्सर गलती से पश्चिमियों द्वारा निष्क्रियता मान लिया जाता है| इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि हिंदुओं ने प्रारंभिक ईसाईयों, यहूदियों तथा पारसियों को शरण दी, जब ईसाइयत के तथा फिर इस्लाम के आरंभ के प्रारंभिक शताब्दियों में वे अपनी अपनी मातृभूमि में मजहबी उत्पीडन से सताए जाने पर, भाग कर भारत आए थे| लेकिन, अपने मत के मूल विश्वासों को छोड़े बिना, ईसाइयत उसी प्रकार श्रीकृष्ण तथा श्रीराम को इश्वर के मानवीय अवतार के रूप में मान्यता नहीं दे सकती, जैसे वह ईसा को देती है, ना ही वे यह मान सकते हैं कि महादेव शिव सर्व-व्यापी ज्ञानातीत परम देव हैं, ना ही कि पूजा किये जाने हेतु परमेश्वर के रूप में देवी को, उनकी माँ तथा पत्नी भी माना जा सकता है|

पश्चिम की कृत्रिम एकता : लेखक अब यहूदी-ईसाई परम्पराओं की तरफ मुड़ते हैं और धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार यह दिखाने का प्रयास करते हैं, कि अपनी मूल अवधारणाओं एवं ब्रह्माण्ड विज्ञानों की अपनी समझ से उत्पन्न जटिल समस्याओं से वे बुरी तरह से घिरे हुए हैं| उनसे दूसरों की भिन्नता से उत्पन्न कठिनाई उन्हें व्यग्र करती है, जिसे वे फिर बाहर की ओर प्रक्षेपित करते हैं| लेखक की मान्यता है कि पश्चिमी सभ्यता के पास एकता है, जिसे इस पुस्तक में परिभाषित कृत्रिम एकता से अधिक नहीं माना जा सकता है| यह एकता पृथक और स्वतंत्र अवयवों से आरंभ होती है, जिन को केवल बड़े प्रयास-पूर्वक एकत्र किया जा सका| अपनी व्यक्तिवादी सोच के कारण, तर्क-पोषित अपने अहंकार को पश्चिम महिमा-मण्डित करता है, जो यह या वह की सोच को पैदा करता है तथा इस प्रकार से, अहंकार से नियंत्रित हो सकने वाले, आणविक ब्रह्माण्ड विज्ञान पर जोर देता रहा है| अपनी द्विविधिक-तर्क (binary logic) से सीमित हुई दृष्टि से जब कोई पश्चिमी व्यक्ति, हिंदू धर्म को देखता है तो उसकी विश्व-दृष्टि को जो चुनौती मिलती है वह उसे कठोर और

खतरनाक जैसी दिखाई पड़ती है| पश्चिम के विकास के कुछ पहलू ध्यान देने योग्य हैं: पहला, यहूदी-ईसाई ब्रह्माण्ड तथा पारंपरिक यूनानी विश्व-दृष्टि के बीच की दरार, फिर वे पांच मुख्य गतिविधियां (पृ.३६) जिनमें हिंसा के बावजूद, विरोधी विश्व-दृष्टियों के मध्य, कृत्रिम एकता स्थापित करने के प्रयास किये जाते रहे|

पश्चिम को गढ़ने हेतु टेम्पलटन योजना : वर्ष २००३ में बंगलुरु में "विज्ञान और धर्म" पर आयोजित विश्व-सम्मलेन के दौरान लेखक को एक अनुभव हुआ, जिससे उन्हें पश्चिमी सोच में विद्यमान नाजुक तथा असंगत आतंरिक एकता, स्पष्ट रूप से देखने को मिली| स्वयं एक भौतिक विज्ञानी होने के नाते वे चिंतित हुए कि, प्रतिष्ठित पश्चिमी वैज्ञानिक जो वहां उपस्थित थे, उन्होंने बड़ी होशयारी से अपने मजहबी परम्पराओं की जड़ों में घुसी हुई इतिहास-केन्द्रिकता को कैसे चुपके से निकाल दिया, ताकि वे स्वयं वैज्ञानिक प्रतीत होते रहें| इसलिए, उकसाने के लिए लेखक ने उनसे आगे पूछा: 'यहूदी-ईसाई मजहबों से जुड़े हुए वैज्ञानिक, विज्ञान और धर्म सम्बन्धी इस बहस में, इतिहास-केन्द्रिकता की समस्या को क्या आप टाल रहे हैं, यद्यपि इतिहास-केन्द्रिकता आप के विशिष्ट होने के दावे के केंद्र में है?' लेखक ने भारतीय धार्मिक परम्पराओं की, कुछ इतिहास से इतर विधियों का उल्लेख किया कि किस प्रकार वे प्रत्यक्ष वैज्ञानिक अनुभववाद को प्रदर्शित करतीं हैं| दूसरे शब्दों में, अध्यात्म-विद्या (अन्तर्निहित मानवीय क्षमताओं पर आधारित) प्रयोगाश्रित विज्ञान है क्या, और यदि ऐसा है तो क्या ऐतिहासिक रूप से अद्वितीय इल्हामों से उसकी संगति हो सकती है? उस सम्मलेन में कुछ प्रमुख आवाजें इस मत की थीं कि लेखक यह सिद्ध करने का अपना प्रयास जारी रक्खें कि इतिहास-केन्द्रिकता से विज्ञान की संगती नहीं हो सकती, क्यूंकि वहां पर इस पर चर्चा से बचा गया|

यह सर्व-विदित है कि 'प्रबोध' (Enlightenment) नाम का यूरोपीय आन्दोलन, स्वतंत्र वैज्ञानिक शोध को संभव बनाने हेतु ईसाई प्रासाद पर एक दीर्घकालीन हमला था, जिसका उद्देश्य राजनैतिक रूप से शक्ति-शाली पादरी-वर्ग के पंख कुतरना था| ईसाइयत, विज्ञान से इस लड़ाई में हार गई थी, और अब फिर से उसके मजहबी विद्वान दूसरे डिब्बों में सजाकर, अपने ऐतिहासिक सिद्धांतों को नए सिरे से विज्ञान-सम्मत दिखाने के प्रयास में लगे हुए हैं| ईसाइयत को एक 'वैज्ञानिक मत-शास्त्र' का रूप देकर उसके पुनर्गठन के काम में ऐसे विद्वानों का जबरदस्त प्रभाव पड़ रहा है| वे 'व्हाइटहेड-वाद - (Whiteheadianism)' सरीखे दार्शनिक वर्गों का उपयोग, उसी प्रकार करने में लगे हैं, जैसे बहुत पहले के चर्च मत-शास्त्रियों ने यूनानी दर्शन को हड़पा था|

पश्चिमी सोच की उत्पत्ति : निहित समस्याएँ - भारतीय धार्मिक परिप्रेक्ष्य से देखने पर, पश्चिमी सोच में ऐसी कुछ मौलिक अवधारणा सम्बन्धी समस्याएँ, जो समय समय पर सतह पर प्रकट होतीं हैं, उनके द्वारा अपनाई गई कृत्रिम एकता के दावे को चुनौती देतीं रहतीं हैं| वे इस प्रकार हैं :

१. आतंरिक विज्ञानों, तकनीकों, विधियों और ऐसे सिद्धांतों का पश्चिमी सोच में अभाव है, जो हमारे आतंरिक जीवन तथा चेतना के क्षेत्रों में अनुसन्धान को संभव बना सकें क्यूंकि - उनका आग्रह इतिहास-केन्द्रिकता पर आधारित परमेश्वर के निर्देशों पर है| प्रोटेस्टंट सुधार ने विवेचनात्मक एवं वैज्ञानिक तथ्यों एवं इल्हाम-आधारित सत्यों के समेकन का रास्ता खोला तो था, और प्रबोध ने मत और तर्क में समन्वय लाने का, कुछ हद तक सफलता के साथ बीड़ा भी उठाया था|

२. ईसाइयत में बौद्धिकता-विरोध और उसके मूल शास्त्रों में वाद-विवाद, तर्क तथा ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी खोज की प्रवृत्ति का अभाव होना - मूल-ग्रंथों का संवादी, लेकिन अधिकांशतः काव्यमय, कानूनी, ऐतिहासिक और गीतात्मक होना| कहीं कहीं उनमें दार्शनिक विचारों का परिलक्षित होना, लेकिन उनका स्थान इल्हाम में

केन्द्रीय न होना, तथा जो दर्शन ईसाईयत के जन्म के काफ़ी बाद प्लेटो से आयात किया गया था, उसे चर्च-अधिनियम के ग्रंथों से नीचे का स्थान दिया जाना| ईसाइयत में संत टॉमस अक्वाइनस (१२२५-'७४), तर्क-संगत जाँच-पड़ताल की विधाओं का समावेश करने हेतु अरस्तु की ओर मुड़े थे| इस प्रकार, प्लेटो और अरस्तु दोनों, ईसाई मत-शास्त्र के विकास के मुख्य श्रोत तो बने, लेकिन वे यूनानी थे, ईसाई कभी नहीं|
३. संतृप्ति की खोज में बाहर की ओर प्रक्षेपण की प्रवृत्ति का होना, जिसके दबाव में साम्राज्यवादी विस्तार एवं विनियोजन के अंतहीन अभियानों का नेतृत्व करना| पश्चिमी सभ्यता में उपरोक्त सतत क्रियाशील दरारों के साथ-साथ, अन्य अनबनों की उपस्थिति: प्राचीन बनाम आधुनिक, असभ्य या मूर्तिपूजक या काफ़िर बनाम सभ्य, आदिम बनाम परिष्कृत, तथा बहुदेववादी बनाम एकेश्वरवादी| ये लगभग सभी दरारें आगे चलकर एक प्रवृत्ति द्वारा दूसरी को हडपने, अथवा जबरन कृत्रिम समझोते करने, या प्रतिरोधी तत्वों का पूर्ण बहिष्कार करने के फलस्वरूप उन दरारों की इतिश्री होना| इन लगभग सभी प्रक्रियाओं में बाहर की ओर दूसरों पर हिंसात्मक प्रक्षेपण हुए हैं - चाहे वह व्यक्तियों पर हुए हों या समूहों पर| इसके उदाहरण हैं - ईसाइयत के प्रारंभिक वर्षों में यूरोप की प्राचीन भूमि-आधारित मतों और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं (तथाकथित मूर्तिपूजक संस्कृति) का सफाया और यूरोपीय आधिपत्य के दौरान कई मूल अमरीकियों का जातिसंहार| उदाहरणा के लिए, पश्चिमी चिंतन के आधार पर भारत, दोनों - सभ्य और बर्बर, आदिम और परिष्कृत, पंथनिरपेक्ष और धार्मिक है, क्यूंकि जब ऐसी सभ्यताओं से पश्चिम का सामना होता है जो उसके द्विविधिक वर्गीकरणों तथा विरोधी चरम विश्वासों में ठीक से नहीं बैठते हैं, तब पश्चिमी मानस में गजब की भ्रांतियां पैदा होने लग जातीं हैं| धार्मिक परिप्रेक्ष्य से देखा जाय तो पश्चिम, स्वाधीनता के लिए नहीं वरन अपनी छवि के निर्देशों के लिए प्रतिबद्ध रहा है, जिनके अनुसार उन्हें सीमित विश्व में असीमित विस्तार की चाह दौड़ाती रहती है| यह हमें मालूम है की ऐसी चाह न तो चिरस्थाई है और ना ही इसे पूरी मानवता के उपयोग हेतु सोचा जा सकता है|

४. द्वैत-भाव को त्यागे बिना, अहम की स्वाधीन रहने की अस्थिर तथा पथ से भटकती खोज, जो स्वयं और दूसरों के बीच दोनों स्तरों, व्यक्तिगत तथा सामूहिक पर अंदरूनी तनाव की उपस्थिति मानकर चलता है, जो संसार में जैसा कुछ होते हुए देखता है और 'उसमें परवर्तन लाने की अनिवार्यता है', ऐसा अनुभव करता है, उसके कारण उस अहम में एक गहरी व्यग्रता पनपती रहती है| जितनी गहरी व्यग्रता होगी, अहम भी उतना ही उग्र हो जायेगा, जैसे जैसे उसके पास वह नहीं होगा, जिसे पाने की उसकी चाह तीव्रतर होती चली जायेगी| यह प्रक्रिया अनंत है और आत्मघाती भी, क्यूंकि यह एक क्रत्रिम अहम-भाव की अवधारणा पर आश्रित है| केवल वर्तमान के क्षण का दीर्घकालीन निरीक्षण करने से ही आतंरिक विज्ञानों की खोज हो सकती है एवं उनके निष्कर्षों के आधार पर इस व्यग्रता का समाधान और अतिक्रमण किया जा सकता है| लेकिन वर्तमान क्षण पर, पश्चिमी सोच में भूतकाल और भविष्य सदा हावी रहते हैं, चाहे उसके कारणों में बाइबिल की श्रृष्टि की अवधारणा हो, आदम के पतन की कथा हो, मुक्ति हो, समय का अंत हो, तथा मोक्ष, या फिर प्रगति और विकास की लौकिक अवधारणाएँ हो, जो इनसे मिलते-जुलते नक़्शे-कदमों पर चलते रहते हैं| यह भूत-और-भविष्य की सतत मानसिक विचारणा, भव्य ऐतिहासिक आख्यान का ही एक संस्करण है, जो वर्तमान के क्षण प्रति-क्षण के अनुभव को छिपा देता है| ईसा समेत यहूदी पैगम्बरों को, कभी भी व्यक्तिगत स्वाधीनता से ज्यादा सरोकार नहीं था; इसके बजाय उन्होंने परमेश्वर की आज्ञा-पालन द्वारा सामूहिक मुक्ति पाने पर जोर दिया था| आदम-हव्वा के मूल पाप ने ईसाईयों को व्यक्तिपरकता तो प्रदान की - जो पाप से सनी हुई विशिष्टता है और इसलिए उसमें अबद्धता या स्वाधीनता लेशमात्र को नहीं है|

ईसाई मतान्धता तथा यूनानी तर्क – एक विसंगति - पश्चिमी संस्कृति की मुख्य दरारों में से विज्ञान तथा मजहब की दरार प्रमुख है, जैसा टेम्पलटन फाउन्डेशन से लेखक की भिडंत में दिखाई दिया| इस तनाव की गहरी जड़ें विशेषकर अमरीका में हैं, जहाँ डार्विन के क्रमिक-विकास के सिद्धांत के स्थान पर अब सृष्टिवाद को स्थापित करने के प्रयासों का चलना, उस बिंदु की ओ़र संकेत करते हैं, जिसके अनुसार, दोनों, यहूदी तथा ईसाई मजहबों के सिद्धांतों में अविक्रेय तत्वों में से एक है: कि बाहरी परमेश्वर द्वारा सिर्फ एक बार 'कुछ नहीं' से पूरी सृष्टि रची गई|

यहूदी और यूनानी मानस – मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८), जिन्होंने विज्ञान तथा मजहब के बीच दरार के उद्गम का वर्णन बहुत पहले किया था, लिखते हैं: यूनानी (यूनानी मानस के हाथ में मानव जीवन एक वायवीय-सहजता, स्पष्टता लिए हुए, एवं तेजस्विता से भरपूर है; यह कहा जा सकता है कि वे माधुर्य और प्रकाश से लबालब हैं) एवं यहूदी मनास (यह बाइबिल आधारित है - जो स्थान इसमें पाप से भरा हुआ है, वह यूनानी मानस के मुकाबले वाकई में अति विशाल है), दोनों का प्रादुर्भाव मानव की प्रकृति की आवश्यकताओं से हुआ है, और दोनों अपना ध्यान उनकी पूर्ती हेतु यथा शक्ति लगाते हैं| लेकिन उनके तरीके इतने भिन्न हैं, वे दोनों इतने भिन्न बिंदुओं पर आग्रह करते हैं, और अपनी अपनी व्यवस्थाओं के अनुरूप ऐसे ऐसे भिन्न भिन्न क्रिया कलापों को अन्जाम देते रहते हैं, कि एक के हाथों से मानव प्रकृति का जो चेहरा दूसरे के हाथों में जब जाता है, तो वह फिर वैसा ही नहीं रह जाता, जैसा पहले था| आर्नल्ड आगे कहते हैं कि प्रोटेस्टंट-वाद और कैथलिक-वाद के बीच की बड़ी दरार ने ईसाइयत और यूनानी मानस के बीच की इस गहरी और चौड़ी खाई को पाटने का काम बिलकुल किया ही नहीं, बल्कि प्रौटेस्टंटवाद का दृष्टिकोण उसी मानस की दिशा में एक और तरह का दूसरा अलग मार्ग था जैसा कैथलिकवाद का, तथा वह बौद्धिकता में उससे काफ़ी न्यून भी कहा जा सकता है| इसके अलावा, एक बड़ी समस्या यूनानी पक्षकी की ओ़र से भी है|

अरस्तुः मध्यमार्ग की उपेक्षा - तर्क सत्य तक पहुंचाता है, सत्य एक ही है, निश्चित, साफ-सुथरा, पूरी तरह से स्पष्ट और प्रामाण्य है, अस्पष्टता से मुक्त| सत्य के विषय में यह दृष्टि किसी हद तक पश्चिम द्वारा अरस्तुवादी मध्यमार्ग-उपेक्षा के पारंपरिक नियम को प्रतिष्ठापित करने के कारण हुआ, जो यह घोषित करता है कि किसी प्रस्ताव के दो विपरीत पक्षों के मध्य में कुछ नहीं होता, और इस प्रकार कोई मध्य-मार्ग नहीं हो सकता| इसे द्विसंयोजक, अथवा दो-मूल्यरत व्यवस्था के रूप में संदर्भित किया जाता है| यद्यपि यह सिद्धांत व्यावहारिक जीवन के रोज़ मर्रे के स्पष्ट विभेदों को समझने हेतु उपयोगी है, इस सख्त नियम को पश्चिमी सोच में आधारभूत महत्व दे दिया गया है और इस प्रकार, बाद के विचार-विनिमय के द्वंदात्मक या क्रियाभावात्मक विवादों में, इस नियम ने कठोर पाबंदियां लगाने का काम किया| इनके फलस्वरूप पश्चिमी दार्शनिक परम्पराएँ, तर्क के इस कठोर 'हाँ या नां, यह या वह' के मध्यमार्गीय-उपेक्षा के नियम को अपनाने की ओ़र प्रवृत हुईं; सचमुच में, अब यह पश्चिमी विचार का मुख्य सिद्धांत बन चुका है| मूल तत्व तथा विशिष्टतावाद एक दूसरे को सुदृढ बनाते हैं, दोनों बौद्धिक नियंत्रण को मदद और बढ़ावा देते हैं| मध्यमार्गीय-उपेक्षा का नियम वस्तुओं की परस्पर निर्भरता, उनके अंतर्संबंधित तथा अंतर्व्याप्त होने की संभावनाओं को समाप्त कर देता है| यह अभिन्न आधारभूत एकता की गुंथी और प्रवाही संबंधों की विशिष्टता के, पूर्णतया विपरीत है| यह विशिष्टतावादी तर्क, इतिहास-केन्द्रिकता की विशिष्टतावादी प्रकृति के साथ मिलकर, यहूदी-ईसाई विशिष्टतावादी लोकाचार की दो पक्की बुनियादें तय्यार करता है|

पश्चिम के पांच मुख्य संश्लेषिक आन्दोलन : ये ऐसे पांच ऐतिहासिक आन्दोलन हुए हैं जिनमें कृत्रिम एकता की समस्याएँ तथा पश्चिमी-अहम के प्रक्षेपण स्पष्ट होते हैं| ये इस प्रकार हैं:

१. रोम का प्रादुर्भाव तथा पश्चिमी ईसाई जगत का जन्म: (सन २७४-३३७) रोमन सम्राट कौनस्टंटाइन द्वारा ईसाइयत को अपना कर राज्य का मजहब बना देने से, विस्तृत पैमाने पर ईसाइयत की इस प्रकार लामबंदी हुई कि रोमन साम्राज्यवाद के ढांचे के अंतर्गत, पहली बार रोम में ईसाई प्रभावयुक्त प्रतिष्ठान की स्थापना हुई| यहाँ हम उपरोक्त समस्यों में से कुछ को सतह पर उभरते हुए देखना आरंभ करेंगे, विशेषकर: चेतना को विकसित करने हेतु आतंरिक विज्ञानों को तकनीक के रूप में प्रयोग करने की उपेक्षा करना, बौद्धिक तत्वमीमांसा तथा इल्हाम-आधारित मजहबों के बीच की व्यग्रतायुक्त कृत्रिम-एकता, तथा पश्चिमी आक्रामक मानसिकता का देह से अलग किया जाना और उसका बाह्य-प्रक्षेपण, जो व्यापक सामूहिक धर्मान्तरण की गतिविधियों तथा साम्राज्यवादी विस्तार की परियोजनाओं को, समय समय पर अन्जाम दिया करता रहा है| ईसाइयत के पहले लगभग एक हज़ार वर्षों में, इस रोमन साम्राज्यवाद ने या तो स्वयं पवित्र रोमन साम्राज्य के रूप में अथवा, रोमन कैथलिक चर्च के रूप में, पूरे यूरोप पर अपना एकछत्र प्रभाव स्थापित कर दिया था|

२. पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों का नवजागरण एवं शोधन : पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों के दौरान, न केवल दैवी तथा लौकिक सत्ता के बीच ही, बल्कि यहूदी (Hebraism) तथा यूनानी मानस (Hellenism) के बीच भी, तत्कालीन असंतुलित मध्युगीन संश्लेषण में एक गिरावट आई| लूथर, कैलविन और उनके अनुयायियों के आग्रह पर, सुधारकों ने 'श्रोत (अर्थात बाइबिल) की ओ़र वापसी' पर जोर दिया, जबकि कला और साहित्य के समर्थक मानववादियों ने, जो कभी कभी उनके सहयोगी बन जाया करते थे, यूनानी उत्कृष्ट साहित्य के शास्त्रों, मूल्यों एवं विचारों के पुनर्जागरण के साथ, कैथलिक पुरोहिती-सत्ता के विरुद्ध तर्क एवं कल्पना शक्ति के उपयोग के प्रति, नए सिरे से अपनी बचनबद्धता पर बल दिया| प्राचीन यूनानियों के दार्शनिक तथा वैज्ञानिक ग्रंथों की पुनर्प्राप्ति से, इस नवजागरण (Renaissance) को एक नई प्रेरणा भी मिली थी| ये प्राचीन यूनानी ग्रन्थ उसके बाद, इस्लामी विद्वानों के माध्यम से प्रसारित हुए, जो रोमन चर्च के मुकाबले, यूनानी विज्ञान के प्रति कम असहनशील थे| प्रौटेस्टंट शोधन (Reformation) ने, जिसने नवजागरण (Renaissance) के साथ साथ और उसके तुरंत बाद ही जोर पकड़ा, नये तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया तथा अनुसन्धान जो बिना दबाव के किया जाता हो, उसकी वकालत भी की| फिर भी, इन व्यापक हलचलों के फलस्वरूप जो आन्दोलन उभरे, वे मूलतः एक दूसरे से विभाजित थे और एक दूसरे से संघर्षरत भी| दमनकारी एवं दिखावटी महँगे कैथलिक पुरोहिती तंत्र के हस्तक्षेप से मुक्ति पाने के लिए और परमेश्वर से सीधे संपर्क साधने हेतु, प्रौटेस्टंटौं ने व्यक्तिगत एवं सहज प्रार्थना तथा स्वैछिक चिंतन पर अपनी ओ़र से जोर विशेष दिया|

३. प्रबोध एवं आधुनिक विज्ञान का जन्म: इस आन्दोलन ने, जो अब तक भी लगभग चालू है, आधुनिक पश्चिमी दर्शन तथा तब से काफ़ी अधिक आग्रहपूर्वक, दैवी और लौकिक (sacred and secular) में भिन्नता के उदय को देखा है, जो किसी हद तक रेने डेकार्ट के कार्य में देह-मुक्त तर्क की विजय के कारण हुआ| आतंरिक विज्ञानों या उनसे मिलती-जुलती किसी अन्य चीज से बिलकुल कटकर, एवं डेकार्टवाद द्वारा जिस द्वैत को एक नई ऊंचाई पर महिमामंडित कर दिया गया था, पर आश्रित होकर आधुनिक चिंतन, निखालिस देह-मुक्त तर्क की नीब पर खड़ा किया गया है| राज्य-राष्ट्र की संकल्पना इसी द्वैत की छाया में पैदा हुई और बढ़ी, तथा किसी हद तक वह रोमन कैथलिक चर्च का लौकिक संस्करण (secular version) भी बन गई| यूनानी तर्क और वैज्ञानिक अनुसन्धान के बढते कदमों ने (ईसाइयत को प्रभाव-हीन बनाने के साथ साथ)

प्रबोध (Enlightenment) को प्रोत्साहित किया| वैज्ञानिक के रूप में देह को यंत्र का प्रतिरूप डेकार्ट मानते थे, जो भौतिक शास्त्र के नियमों के द्वारा संचालित होता है, लेकिन कट्टर कैथलिक के रूप में डेकार्ट मानते थे कि रूह, परमेश्वर के निर्देश मानने या ना मानने के लिए स्वतंत्र है, जिसके परिणाम उसे 'न्याय के दिन' (Day of Judgement) के अवसर पर भुगतने होंगे| "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ" (I think, therefore I am), उसकी प्रसिद्ध कहावत बन गई एवं कार्य विधि भी| भावनाओं एवं जैव-पदार्थ का संसार, दार्शनिक कल्पनाओं तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों के संसार से बिलकुल पृथक कर दिया गया, जिसने फिर अपना नया संसार रचना आरंभ किया| इस प्रकार विज्ञान तथा मजहब में कोई संघर्ष नहीं हो सकता, क्यूंकि अपने अपने क्षेत्र में दोनों स्वायत्त हैं और इनमें से किसी की भी, दूसरे के क्षेत्र में कोई हैसियत नहीं है| जीवन से इश्वर की उपस्थिति के परित्याग का अर्थ, कालांतर में समाज से मूल्यों का परित्याग हो गया, क्यूंकि ब्रह्माण्ड और विश्व का सञ्चालन, मूल्य-मुक्त यांत्रिक नियमों से होता दिखाया गया| ऐसे समाज के परमाणु-रूप आकार के व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध, केवल एक-दूसरे के हितों के पोषण हेतु, अनुबंधों के माध्यम से ही हो पाएंगे, जो केवल अपने ही हित में कार्यरत होंगे - पूरे समाज के हित को ध्यान में रखकर नहीं| सब के व्यक्तिगत भले को जोड़कर जो 'योग' बनेगा वह ही समाज का भला कहलायेगा|

४. उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी का पूर्वात्य - पुनर्जागरण : कुछ विद्वानों का मानना है, कि अठारहवीं शताब्दी के बाद से पश्चिम, पूर्वात्य पुनर्जागरण (oriental renaissance) से गुजरा है| इस आन्दोलन ने, अक्सर बगैर विद्वानों द्वारा पहचाने और खोजे गए तथ्यों की अभिस्वीकृति के, एशियाई समाजों, विशेषकर भारत की धार्मिक परम्पराओं से पश्चिम को भिड़ते देखा| इस टकराहट ने पश्चिम को चुनौती दी तथा उसके कई समस्याग्रस्त प्रक्षेपणों को उभारा भी| संस्कृत एवं उसके परिष्कृत पारंपरिक शास्त्रों के साथ यूरोपीय समागम ने, उन्नीसवीं सदी के दौरान अत्यधिक जीवंत तथा प्रभावकारी एक बौद्धिक आंदोलनों को जन्म दिया| यूरोपीय भारतविदों (Indologists) एवं यूरोप में क्रियाशील उनके विरोधियों द्वारा, विशेषकर पश्चिम की रुमानी तथा उसकी आधुनिकतम अवधारणाओं को आकार देने के काम को अन्जाम देने में उन पश्चिमी विद्वानों की भूमिका, जिसे प्रायः जान-बूझकर छिपाकर रक्खा जाता है, अथवा उसे कमतर कर के आंका जाता है, पर से पर्दा उठाने के लिए अभी बहुत काम किया जाना बाकी है| लेकिन जिस बात पर यहाँ विशेष बल दिया जा रहा है, वह यह है कि, एशियाई संस्कृतियों तथा उनकी तत्वमीमांसाओं को 'पचाने' के इन लुके-छुपे प्रयासों ने, पश्चिमी कृत्रिम एकता के अंदर, पहले से और भी अधिक तनाव पैदा कर दिया है|

५. औपनिवेशिक विस्तार : पूर्वात्य-पुनर्जागरण (oriental renaissance) के साथ साथ, पश्चिमी-औपनिवेशिक विस्तार भी हुआ था, जिसके दौरान हुई हिंसा तथा आक्रमण के विवरण भली भांति दस्तावेजों में लिखे गए| चाहे जिस वजह से भी इस बात को अक्सर नज़रंदाज़ कर दिया जाता हो, तथ्य यही है कि, इस विस्तार की प्रेरणा एवं उसकी संरचना के सिद्धांत, ईसाई विश्व-दृष्टि के अंदर ही गहराई से विद्यमान थे, यद्यपि वास्तव में यह विस्तार, लौकिक-वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर एवं 'पिछड़े' लोगों को परास्त करने हेतु किया गया था| जैसे जैसे पश्चिमी संस्कृति के अंदर मजहबी एवं लौकिक तंत्रों की दरार बढ़ती गई थी, अधिकतर वैसे वैसे ही ये विस्तारवादी अधिग्रहण होते चले गए| एक ही समय में, मजहबी तथा लौकिक, दोनों तंत्र इस उपनिवेशीकरण में सहभागी थे, जो चाहे सतह पर यूरोप में भले ही एक दूसरे के विरोधी रहे हों, दोनों ही उस एक मजहबी और ब्रह्मांडीय आधार से उपजे थे, जिसमें मजहबों के ऐतिहासिक इल्हामों एवं वैज्ञानिक प्रगति के अपने अपने तनाव परस्पर घुले-मिले हुए थे| नवजागरण तथा प्रबोध (Renaissance and the Enlightenment) के दौरान हुए एकीकृत ईसाई विश्व-दृष्टि में विभाजन के बाद, उनके विभिन्न अवयव आपस में जोरों से टकराए, लेकिन अपने घर के अंदरूनी तनाव को कम करने के लिए, वे विश्व भर में ईसाई

विस्तार हेतु फिर से साथ हो गए| सांस्कृतिक इतिहासविद डेविड लौय ने, इन ईसाई विस्तारों को अन्जाम देने हेतु, उनपर हो रहे मनोवैज्ञानिक दबाव का विश्लेषण किया| अपने को सुरक्षित बनाये रखने हेतु, एक तरीका यह भी है कि हम हावी होने के लिए दूसरे को अपने अधिकार में ले लेते हैं| यूरोपीय विस्तार के बाद 'नव यूरोप' के रूप में, प्रौटेस्टंट एवं ईसाई मुक्ति के इतिहास के लौकिक संस्करण पर जोर देते हुए उदय हुआ, एक नई दुनियां, अमरीका का|

इन अवधियों में से प्रत्येक में, हम पाते हैं कि अवधि-विशेष से पूर्व के यूनानी (Hellenic) एवं यहूदी (Hebraic) मूल्यों के अस्थिर संश्लेषण टूटने लगते थे, तथा उनके आपसी तनाव के परिणाम-स्वरूप पैदा होने वाली व्यग्रता का प्रक्षेपण, दूसरों पर प्रायः, हिंसात्मक तरीकों से हुआ|

#३: अराजकता के प्रति व्यग्रता बनाम जटिलता एवं अस्पष्टता के प्रति सहजता

भारतीय धार्मिक सभ्यताएँ, विविधता एवं अस्पष्टता में ज्यादा सहज तथा आराम से रहते हैं, पश्चिम के मुकाबले| योगिराज श्री अरविन्द के अनुसार, चूँकि धार्मिक परम्पराओं में विद्यमान एकात्मता का आधार, उनकी एकता की समझ है, उसमें अपरिमित विविधता हो सकती है, बिना विघटन एवं अराजकता में ढेर हो जाने के किसी भय के पैदा हुए| ये परंपराएँ, अपने आधारभूत शास्त्रों, महाकाव्यों, आदर्शों एवं मूल्यों के बल पर, व्यवस्था तथा अव्यवस्था, दोनों को एक ही परिवार का सदस्य मानते रहे हैं और इन दोनों में परस्पर सहयोग-आधारित प्रतिद्वंदिता के विचार के इर्द-गिर्द ही, समुद्र-मंथन के विविध आख्यानों को बुनते हैं, जो क्षीर सागर के मंथन के विषय में पुराणों में प्रचलित, नाना प्रकार के बखान करते हैं|

पश्चिम में, अराजकता को मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दृष्टियों से एक सतत खतरे की तरह देखा जाता है - एक ऐसी अवस्था, जिस पर जीत हासिल करने हेतु उसे नियंत्रित या नष्ट करना जरुरी है| संस्कृति, नस्ल, लिंग, यौन-अनुस्थिति आदि की परस्पर भिन्नताओं से उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु निर्देश देने के लिए, यह भय-मिश्रित सोच, मनोवैज्ञानिक रूप से पश्चिम के अहम को अति बलवान एवं नियंत्रक बना देती है| ऐसी एकता पर आधारित, एक ब्रह्माण्ड-विज्ञान जो कृत्रिम है, व्यग्रताओं से भरा हुआ रहा करता है|

अध्याय ४. व्यवस्था और अव्यवस्था

भारतीय धार्मिक दृष्टि यह कहती है कि तथाकथित 'अव्यवस्था' एक प्राकृतिक एवं सामान्य अवस्था है; उसे व्यवस्था द्वारा संतुलित किया जाना आवश्यक तो है ही, लेकिन उसे नियंत्रित करने या पूरी तरह से नष्ट करने या बाहर से उसमें जबरन संबद्धता पैदा करने की, कोई ताबड़-तोड़ आवश्यकता नहीं है| इसके विपरीत पश्चिम, अव्यवस्था को एक गंभीर खतरा मानता है, जिसे नष्ट करके या पूरी तरह से ही आत्मसात करके, दूर किया जाना आवश्यक है| अरेखीय (non-linear thinking) चिंतन, विरोधी स्थितियों एवं सरलता से आसान अवधारणाओं या सीधे व्यक्त नहीं किया जा सकने वाली जटिलताओं का सामना करना, भारतीय स्वाभाविक मानते हैं| अप्रत्याशित अथवा विकेन्द्रित स्थितियों में इसके विपरीत पश्चिमी लोग, प्रायः डर जाते हैं| वे ऐसी स्थितियों को ठीक किये जाने हेतु उन्हें 'समस्याओं' के रूप में देखते हैं| संस्कृत के विशाल वाँग्मय में हमें, अव्यवस्था तथा भिन्नता से निपटने के कई सन्दर्भ-संवेदी एवं लचीले तरीके दिखाई पड़ते हैं| यहाँ सदा, समता एवं संतुलन की खोज के साथ साथ, अव्यवस्था के प्रति सहजता की खोज भी रहती है|

दूसरी ओर, जनेसिस की सृष्टि-विषयक कहानियों और यूनानी शास्त्रों में, इन दो धुर विरोधी स्थितियों के संघर्ष में, विजय सदा व्यवस्था की ही होती है| अव्यवस्था तब पैदा होती है, जब मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से, सामान्यतः समाज में ऐसे दृगविषयों का अनुभव किया जाता है, जो द्रष्टा को आसानी से बर्दाश्त नहीं हो पाते, जिसके कारण वस्तुस्थिति का संज्ञान लेना कठिन हो जाता है| इस दशा को सहन करने की क्षमता, व्यक्तियों एवं संस्कृतियों में भिन्न भिन्न सीमाओं तक होती है, लेकिन कुछ समान स्थितियाँ प्रत्यक्ष दिखाई पड़तीं हैं| भारतीय धार्मिक संस्कृतियों के लोग भिन्नता, अप्रत्याशितता एवं अनिश्चितता का सामना, ज्यादा आसानी से कर लेते हैं, पश्चिमी लोगों के मुकाबले|

पश्चिम, आश्वासनों एवं निश्चितता के लिए तरसता है, किसी हद तक इसलिये, क्यूंकि, यह या वह की विरोधी स्थितियों में से, एक का चयन, उसका हठ है| पश्चिमी मजहब इसी जीवन के बाद मुक्ति या नरकवास का आश्वासन देकर, मृत्यु-भय का समाधान देते हैं, जबकि धार्मिक दृष्टि के अनुसार जीव को चेतना के शनैः शनैः विकास हेतु, विभिन्न घुमावदार, अलग अलग मार्गों से चलकर, हताशाओं एवं अलग अलग स्तर के परिवर्तनों का, रूचि के अनुरूप अनुसरण करने के लिये, कई जन्म मिलते हैं| ईसाई लोग, जो किसी खास सिद्धांत (denomination) को मानते हैं, अक्सर आने वाले समयांत (End Times) एवं स्वर्ग जैसे काले-सफ़ेद, स्पष्ट प्रत्याशित परिणामों को पसंद करते हैं| ऐसी अर्थ-पूर्ण अभिकल्पना में, दुष्टता को जड़ से समाप्त करने हेतु 'शैतान के विरुद्ध युद्ध' का आकर्षक उद्देश्य, उन्हें खूब भाता है|

लेकिन भारतीय ब्रह्माण्ड विज्ञान के अनुसार, कोई 'अंतिम युद्ध' नहीं हो सकता, क्यूंकि कोई आसन्न परिणाम है ही नहीं| हर सृष्टि के अंत के बाद, सदा एक नई सृष्टि का जन्म होता है, जो ब्रह्मांडों की एक अनत श्रृंखला में एक होती है, जिसका न कोई आदि हैं न अंत| एक अनादी और अंतंत ब्रह्माण्ड की अवधारणा, अधिकांश पश्चिमी लोगों के लिए भयावह है, जिन्हें निश्चित सीमाओं की आदत है - समय का आरंभ और अंत, सृष्टि का आरंभ और अंत, पिंड जो सीमित और पृथक हैं, आदि| 'कर्म के बीजों के नाश' का विचार और इस प्रकार पिछले सब कर्मों के प्रभाव से मुक्त होने का अर्थ है - मानवीय साधना के माध्यम से इसी जन्म में आत्मज्ञान प्राप्त करने की संभावना| यहाँ कोई स्थाई स्वर्ग या नरक नहीं है; उसी वास्तविकता के अंदर, ये एवं ऐसी अन्य अवस्थाएँ भी विद्यमान हैं| ये क्रमशः, जटिल भावातीत लोक हैं, जिन्हें 'स्वर्ग' एवं 'नरक' के रूप में चित्रित किया जाता है| स्वर्ग अथवा नरक में निवास करना, किसी के लिए भी, सदा अस्थाई होता है| चेतना के स्तरों के अनुसार, ऐसे कई लोकों का अस्तित्व माना जाता है| सर्वोच्च अवस्था में, हम उस एक परम सत् से एकत्व की अनुभूति करते हैं, जिससे सभी का उद्भव हुआ है और जिसमें सभी का अंततः, विलय होना है| किसी का ऐसे बहु-आयामी ब्रह्माण्ड में परिभ्रमण करना, उसके लिए व्यग्रता का कारण नहीं बन सकता, क्यूंकि अंततः, हमारा स्वरुप सत्-चित-आनंद के रूप में सुरक्षित है| लेखक अब पाठकों को यह देखने हेतु आमंत्रित करते हैं कि, किस प्रकार पश्चिम, न केवल अव्यवस्था से भयभीत रहता है, बल्कि वे उस भय को भारत एवं उसकी संस्कृति के विरुद्ध किस प्रकार प्रक्षेपित करते रहते आये हैं|

भारतीय 'अव्यवस्था ' एवं पश्चिमी व्यग्रता : लेखक के अपने निजी अनौपचारिक निरीक्षण इस बात की पुष्टि करते हैं, कि अप्रत्याशित स्थितियों में भारतीय, पश्चिमी लोगों के मुकाबले, अधिक सहज रहते हैं| इसके विपरीत अधिकांश पश्चिमी लोग सामान्यतः, अप्रत्याशित अथवा विकेन्द्रित स्थितियों से भयभीत रहते हैं| हम देखेंगे कि, पश्चिमी लोगों की ऐसी प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करने हेतु वास्तव में कुछ अध्ययनशील प्रमाण उपलब्ध है| जैसा शिकागो विश्वविद्यालय के दक्षिण एशियाइ विषय के विद्वान लोइड एवं सुज़ान रुडौल्फ़ बताते हैं, 'भारत को यदि पश्चिम की दर्पण-छवि के रूप में देखा जाय, तो वह पारलौकिक, भाग्यवादी, असमानतावादी प्रतीत होता है| ऐसा प्रतीत होता है कि, हम अपने जैसे कमतर हो जायेंगे, कम इहलोकवादी, निपुण, समतावादी एवं व्यक्तिवादी हो जायेंगे यदि भारतीय जैसे वे हैं, उससे कम हो जांय'| कैथरीन मेयो की पुस्तक 'द फेस ऑफ मदर इंडिया' - 'एक सफाई निरीक्षक की रिपोर्ट' (a drain inspector's report), जिसे महात्मा गाँधी ने ऐसा बताया था, और मध्य-१९५० तक, जिसके कुल सत्ताईस अमरीकन संसकरणों में ढाई लाख से अधिक प्रतियाँ अकेले अमरीका में ही बिक चुकीं थीं, भारत के विषय में अमरीकियों के विचारों को निर्धारित करने में बहुत प्रभावशाली रही| ऐसे विवरणों ने भारतीयों की छवि 'अनैतिक एवं अविश्वसनीय'

रूढ़िवादियों की तरह गढ़ी| सामान्य रूप से अव्यवस्था, नैतिक अनिश्चितता एवं निष्क्रियता को अमरीकन लोग, मर्दानगी की कमी से जोड़ते हैं| भावुकता, भारतीयों की मुख्य विशेषता के रूप में मानी जाती है| रौटर बताते हैं कि अमरीकी विदेश नीति सदा से एक और एकमात्र सत्य के प्रौटेस्टंट विचार से संचालित हुई है| इसलिए भारत की गुटनिरपेक्षता को, नैतिक अनिश्चितता एवं सापेक्षता के उदाहरण स्वरूप देखा गया - अर्थात, हिंदू सही और गलत में भेद नहीं कर सकते और न उसकी चिंता ही वे करते हैं| हिंदू धर्म उसी प्रकार समस्याग्रस्त है जैसे साम्यवाद:, इस लिए, नैतिक निश्चितता की कमी उनमें रहती है, यह डलेस के विचार थे|

संज्ञान लेने की एशियाइ एवं पश्चिमी संस्कृतियों की भिन्न विधियां, अब वैज्ञानिक निरीक्षण के विषय बन गए हैं| मिशिगन विश्वविद्यालय के संज्ञानात्मक विज्ञान के शोध कर्ता रिचर्ड निस्बैट, जिन्होंने इस विषय पर अध्ययन किया, बताते हैं कि, वास्तव में एशियाइ लोग संसार को, गोरे उत्तरी अमरीकनों से भिन्न तरीकों से देखते हैं, और निष्कर्ष निकालते हैं कि एशियाइ लोग समरसता एवं जटिल संबंधों में अधिक सहज रहते हैं| विखंडन-वादी पूर्वाग्रह, जो पश्चिम के अर्थ में व्यवस्था है और भारत के अर्थ में अव्यवस्था है, यह नहीं समझा पाता है, कि भारतीय लोग कैसे विविध आध्यात्मिक साधनाओं में निष्णात होने के साथ, विज्ञान, व्यवसाय एवं अभियांत्रिकी जैसे तर्कसंगत क्षेत्रों में भी पारंगत होते हैं| भारतीयों की तर्क शक्ति को हीन घोषित करने के उपरांत, पश्चिमी विद्वानों को उनकी विचार पद्यतियों की श्रेष्टता को पूरी तरह से स्वीकार करने में कठिनाई होती है, बावजूद इसके कि उन पद्यतियों का पश्चिम पर प्रभाव निर्विवाद रहा है| फिर भी, बहु-आयामी विधि-पूर्वक सोचने, सुनियोजन एवं अनुभव करने पर आधारित समकालिक भारतीय दृष्टिकोण, पश्चिमी विचारों की हाल की कई महत्वपूर्ण खोजों के मूल में रहा है, जिनमें सम्मिलित है ज्ञान-मीमांसा के सिद्धांत के रूप में 'संरचनावाद' की खोज, एक ऐसी विधि, भाषाओँ-समाजों, दोनों के अध्ययन में समान रूप से जिससे, क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है| जैसा कि रिचर्ड लेनॉय का निष्कर्ष है: 'सहज-ज्ञान से आकृतियों की पहचान एवं समकालिक संज्ञान (दोनों संरचनावाद के पहलू) को 'अवैज्ञानिक अतार्किकता' बता कर उसे हेय करार देना, एक दुर्भाग्यपूर्ण गलती है, विशेषकर भारत जैसे समाज के लिए, जिसकी प्रतिभा को, यद्यपि लंबे समय से ही 'पुरातन' बदनाम देकर कलंकित किया गया, और जिसने पश्चिम की अनुक्रमिक तर्कयुक्त चरण-दर-चरण एकरेखीय विकास-पद्यति के मुकाबले, अपनी सोच की श्रेष्ठता को लगातार प्रदर्शित किया है, और जिसे अब विश्व भर में पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त हो भी रही है'|

अव्यवस्था के प्रति भारतीय सहजता : संज्ञान लेने के मामले में भारतीय धर्मों का लचीलापन, किसी हद तक उनके द्वारा आधारभूत एकता एवं संदर्भ को महत्व दिए जाने से है| मूल रूप से सभी कुछ परस्पर जुड़े हुए माने जाते हैं, इसलिए बहुलता से भयभीत न होकर, उसमें सहज रहना उनके लिए स्वाभाविक है| 'एकता हमें रचनी चाहिए, लेकिन समरूपता जरूरी नहीं', श्री अरविन्द ने लिखा और वे आगे कहते हैं - 'प्रकृति अनंत विशिष्टीकरण का आनंद ले सकती है' क्यूंकि 'शाश्वत अपरिवर्तनीयता' द्वारा प्रदत्त, 'सुरक्षित आधार' सदा अप्रभावित रहता है| व्यवस्था-अव्यवस्था के बीच इसी प्रकार के प्रवाही और परस्पर-संबद्ध रिश्तेदारी ने भारत की सामाजिक, राजनैतिक एवं नागर संरचनाओं को आकार दिया है| उपनिवेशकाल से लेकर आजतक, जिस बात ने कई पश्चिमियों को चकित किया है, वह है यहाँ परंपरागत भारतीय समाज की विकेन्द्रित, स्वसंचालं की प्रकृति| यह विकेन्द्रित संरचना बहुत भिन्न है, पश्चिम को पसंद, समरूपता, केंद्रीयकृत-प्राधिकार एवं नियंत्रित व्यवस्था से| भारतीय संस्कृति में, स्थिर आदर्शों एवं आशु-रचना के बीच गत्यात्मक रिश्तेदारी होने

से सर्जनात्मकता, फलती-फूलती रही है| भारतीय कला में एकत्व तो है, लेकिन वह एक ही प्रकार के आकारों की पुनरावृत्ति नहीं है; वह अनेकता में एकता है| यह प्रकरण वास्तुकला, कविता, संगीत, मूर्तिकला - सचमुच हिंदू जीवन-पद्यति के सभी कल्पनीय आयामों में परिलक्षित होता है| भारतीय आध्यात्मिक लचीलेपन को यादृच्छिकता (मनमानापन), छल अथवा प्रखरता का अभाव समझने की ग़लती नहीं की जानी चाहिए: न्याय शास्त्र में किसी सिद्धांत को स्थापित करने हेतु पांच विधियों से परीक्षण आवश्यक होता है; मीमांसा में सात सिद्धांतों के आधार पर किसी समस्या का निर्धारण होता है; संस्कृत में वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखने हेतु 'तंत्र-युक्ति' नाम की तकनीकें प्रयोग की जातीं हैं; और प्रतिस्पर्धियों से वाद-विवाद करने हेतु विविध स्थापित विधियाँ होतीं हैं| पश्चिम में प्रचलित दाहिने-मस्तिष्क की व्यवस्थात्मक-सोच के साथ भारतीय इतिहास में बांये-मस्तिष्क की सर्जनात्मक-सोच पनपती रही है, और इन दोनो का आपसी तनाव, भारत की विविध सांस्कृतिक संरचनाओं में प्रकट होता रहा है|

पावन कथानक : वेदों और उपनिषदों में, तथा संस्कृत के विशाल वांग्मय में, हम समता एवं संतुलन की खोज में रत, अव्यवस्था और भिन्नता के समाधान हेतु, अव्यवस्था के प्रति पूरी जागरूकता के साथ, कई सन्दर्भ-संवेदी एवं लचीली कार्य विधियाँ देख पाते हैं| जेनैसिस की सृष्टि विषयक कहानियों तथा यूनानी शास्त्रों में, अव्यस्था एवं व्यवस्था के दो ध्रुवों के बीच एक सतत युद्ध चलता रहता है, जिसमें जीत सदा व्यवस्था की ही होनी होती है| पश्चिम की संस्कृति एवं उनके मनोविज्ञान के आधारों में, व्यवस्था की इस प्रकार की, अवश्यम्भावी जीत की संरचना ही इस कदर गहराई से छाई हुई है, कि इस बात का भान, पश्चिमियों को स्वयं से होना बहुत कठिन है, जब तक कि यह बात किसी दुसरे के द्वारा उन्हें बताई न जाय|

वेद: वैदिक साहित्य में, कई आख्यान आते हैं जो सृष्टिकर्ता प्रजापति द्वारा ऐसे ब्रह्माण्ड की रचना के विवरण देते हैं, जिसमें व्यवस्था एवं अव्यवस्था की दो शक्तियों को संतुलन में रक्खा जा सकेगा - अर्थात, उसमें अंतर्सम्बद्धता तो होनी होगी, फिर भी, उस अवांछित अवस्था से बचे रहना भी आवश्यक होगा, जिसमें सृष्टि टुकड़ों में बटती या अराजकतापूर्ण स्थिति में ही रह जाती| प्रजापति समझते हैं कि यह सम्पूर्ण जीवन, अतिविशिष्ट भिन्नता एवं अति समरूपता के दो विपरीत अतिक्रमी ध्रुवों के बीच, संतुलन की स्थिति में रहनी चाहिए| अंततः, उन्हें 'बंधुता' नाम की समानता की शक्ति के माध्यम से ऐसे ब्रह्माण्ड की सृष्टि को रचने में सफलता मिल ही गई, जिस पर अध्याय ३ में विस्तार से वर्णन है| यथार्थ के विभिन्न लोकों में परस्पर संबंधों की खोज के प्रयासों के अनेक विवरण वेदों में मिलते हैं और सूत्र रूप में यही सिद्धांत वैदिक विचार वांग्मय एवं नैतिक संवाद में व्याप्त हैं| चेतना और सर्जनात्मकता के क्षीर-सागर का मंथन, अर्थात समुद्र-मंथन, एक ऐसा आख्यान है जो सभी भारतीय धर्मों की परंपराओं में विशेष स्थान रखता है, और यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार दो विपरीत ध्रुवों, एक ओ़र व्यवस्था के प्रतीक देवताओं तथा दूसरी ओ़र अव्यवस्था के प्रतीक असुरों के बीच शाश्वत, एक संघर्ष चलता रहता है, जो संघर्ष हर व्यक्ति के अंदर भी चलता रहता है| इस आख्यान को अक्षरशः सत्य मानने का इरादा न होते हुए भी, इस बात की ओ़र यह ध्यान दिलाता है कि दोनों विपरीत अवस्थाओं, व्यवस्था तथा अव्यवस्था के बीच संतुलन के उपरांत, उनके पार जाकर उन्हें अंततः, आध्यात्मिक अनुभूति की अवस्था के अधीन ही रहना है| व्यवस्था को जड़ न बनने देने हेतु अव्यवस्था, सर्जनात्मकता का श्रोत बनने का काम करती है| अस्तित्व (सत्) न केवल असत पर टिका हुआ है, ये दोनों ध्रुव आपस में घनिष्टता और सक्रियता से बंधे हुए भी हैं| भगवान श्रीकृष्ण का माधुर्य भाव जो दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति के विषय में है, को व्यवस्थित अनुशासन (भगवान श्रीकृष्ण का दूसरा

रूप) के प्रतीक बुद्धि, से श्रेष्ठ माना गया, यानी, 'व्यवस्था की स्थिति' से भी बढ़कर प्रेम की अवस्था है|

परस्पर निर्भरता का बंधन, जो मूल रूप में बंधू की वैदिक अवधारणा ही है, ब्रह्माण्ड की आधारभूत एकता को बांधती है| वैदिक यज्ञ एक कार्यशाला है, जिसमें ऐसे बंधुओं को ढाला जाता है, जो व्यवस्था में अव्यवस्था के विलय को संभव बनाता है| ऋगवेद में, एक विलक्षण अंतर्दृष्टि प्रस्तुत है, जो प्रकृति के नियामक सूत्र के रूप में, ब्रह्मांडीय व्यवस्था एवं लय को 'ऋतम्' के संबोधन से परिलक्षित करती है, जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु को उसकी प्रकृति एवं गति प्रदान की गई है तथा सूक्ष्म एवं स्थूल के बीच संतुलन कायम है| पश्चिम ने जिन महत्वपूर्ण क्षेत्रों को, दैवी और लौकिक (sacred and secular) को, स्वभाव और प्रकृति को, आपस में अलग कर दिया है, उनके बीच 'ऋतम्' सेतु का काम करता है|

बाइबिल और यूनानी देवकथाएँ : बाइबिल सृष्टि-कथाएँ तथा यूनानी-आख्यान, व्यवस्था को अव्यवस्था के मुकाबले, विशेषाधिकार प्रदान करते हैं| जेनैसिस की सृष्टि कथाओं में (अध्याय १-२), उदाहरण के लिए, परमेश्वर सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि शून्य से एक ही बार में कर डालते हैं, जिसमें सभी परस्पर विरोधी जोड़े शामिल रहते हैं| परमेश्वर प्रकाश और अंधकार के द्वि-विधिक (binary) वर्गों को स्थापित करते हैं| पश्चिमी चिंतन में जो विशेषताएँ हैं, अधिकतर वे यहीं से शुरू होतीं हैं: अस्पष्टता एवं निराकारत्व के मुकाबले द्वि-विधिक एवं विशिष्ट विभेदों को विशेषाधिकार दिया जाना, रिक्ति-खालीपन से संत्रास का भाव, सामान्य स्थान-काल सतात्य (normal space-time continuum) से देवत्व की संकल्पना को भिन्न एवं बिलकुल बाहर मानना| यहाँ मानव को ईश्वर के, भले-बुरे पेड़ (tree of knowledge) के फल न खाने के नियम का पालन करना होता है| जब भी आदम और हव्वा इस नियम का उल्लंघन करते हैं, तब ही उन्हें होश आता हुआ प्रतीत होता है, और उनकी चेतना में पाप का बोध कौंधता है| उन्हें अचानक पता चलता है कि वे नग्न हैं और वे इश्वर के सामने शर्मसार हो जाते हैं, और इश्वर से यह शर्म एवं दूरी का भाव, उनमें भय में बदल जाता है| ईसाइयत की सब से अधिक प्रचलित, यह आदम और हव्वा की कथा, बाइबिल में केन्द्रीय कानूनी स्थान रखती है और आम तौर पर (यद्यपि हमेशा नहीं) अक्षरशः, सत्य मानी जाती है, जबकि प्रजापति का सृष्टि-विषयक कथानक, इतना प्रचलित नहीं है और न ही उसे अक्षरशः सत्य ही माना जाता है|

हिंदू धर्म में किसी बाहरी शैतान या ईसा-विरोधी जैसी शक्ति की संकल्पना नहीं है| यह विश्व-दृष्टि, अधर्म की अनदेखी नहीं करती लेकिन यह सलाह अवश्य देती है कि, शुभ और अशुभ अपने अंदर ही होते हैं और किसी बाहरी नियंत्रण के बिना, अपनी चेतना को उन्नत करने से ही शुभ व अशुभ दोनों से ऊपर उठा जा सकता है| राजनैतिक स्तर पर, उदाहरण के लिए, प्रतिद्वंदी राष्ट्रों को कभी भी इस प्रकार संबोधित नहीं किया जायेगा जैसे, 'शैतान का साम्राज्य' (राष्ट्रपति रीगन जैसे सोवियत रूस को संबोधित करते थे) या किसी 'शैतानी धुरी' (राष्ट्रपति जौर्ज बुश जैसे अमरीका के लिए खतरनाक माने जाने वाले राष्ट्रों को संबोधित करते थे)| बुराई से संघर्ष बाहरी नहीं आतंरिक है, यही चित्रित करते हैं भारतीय आख्यान, जिनमें बाहरी शत्रु का नाश न कर देवता विष पी जाते हैं| संभवतः, क्राईस्ट के दूसरे आगमन को इंगित करने वाली इसी प्रकार की कथा, 'रहस्योद्घाटन की किताब' में देखने को मिलती है, जिसमें वे शैतान को एक प्रत्यक्ष युद्ध में हराने के बजाय, पचा लेते हैं| लेखक के अनुसार यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि ऐसे विचार की संभावना उनकी एक कल्पना मात्र है, क्यूंकि यहूदी तथा ईसाइयत के लिए 'भले बनाम बुरे' की द्वैतवादी सोच परम सिद्धांत है| इसी प्रकार यूनानी संस्कृति में, उदाहरण के लिए, व्यवस्था एवं प्रकाश का आकाशीय देवता जिउस,

अव्यवस्था तथा अंधकार के अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट देवताओं, टाइटेनों को पूरी तरह से उखाड़ फैंकता है|

संदर्भगत नैतिकता : नैतिकता के क्षेत्र में विविधता एवं सूक्ष्म विभेदों के बारे में पश्चिमी लोग विशेष रूप से असहज हो जाते हैं| उन्हें, भारतीय धार्मिक नैतिकता, अराजक, आवेगशील, अतार्किक एवं सिद्धान्तहीन प्रतीत हो सकती है| पश्चिमियों को स्पष्ट न दिखने वाले, नैतिकता-विषयक सिद्धांत एवं अनुशीलन, लेकिन धर्म की सम्मान्य परंपराओं में सम्मिलित हैं| खास परिस्थिति तथा समस्या के सन्दर्भ के अनुरूप ही, धार्मिक नैतिकता इस प्रकार निर्धारित है, जो पश्चिमी नैतिकता को जरुरत से ज्यादा विधिबद्ध-कठोर-अचल तथा एकांगी दिखाती है| अपने प्रभावी निबंध "विचार करने की क्या भारतीय विधि भी है?" में, ए.के.रामानुजन 'सन्दर्भ-मुक्त' एवं 'सन्दर्भ-संवेदी' जैसी शब्दावली का प्रयोग, नैतिकता पर पश्चिम एवं भारत में प्रचलित दृष्टिकोण के अंतर को दिखाने हेतु करते हैं| इन दो प्रवृत्तियों के अपने अपने सामाजिक एवं राजनैतिक निहितार्थ निकलते हैं| सन्दर्भ-मुक्त विचार-पद्यति, ऊपर-से-नीचे परिचालित, केंद्रीयकृत-शासन एवं नियमन पद्यति की नियम-बद्ध व्यवस्था सुनुश्चित करने के लिए, द्वि-विधिक वर्गों एवं तर्क, इतिहास-केंद्रीक काल-क्रमों व विविध कानूनों को मानती है जो टीमों-के-प्रशिक्षण, जैसे सेना, विक्री जैसे विभागों या मिशनरियों हेतु, विविध नियमों के माध्यम से उपयोगी होती है|

दूसरी ओर धर्म में, खुलेपन के भावसे से, जटिल नैतिक प्रश्नों के विविध समाधान, सन्दर्भ के अनुरूप तय होते हैं| नैतिक प्रश्नों के स्थानीय सन्दर्भ के निर्धारण हेतु, भौगोलिकता का ध्यान रखते हुए, उन विविध पहलुओं पर भी विचार होता है, जैसे 'आश्रम धर्म' (बचपन, गृहस्थी, वानप्रस्थ, सन्यास आदि विषयक), 'वर्ण-धर्म' (व्यवसाय विषयक), 'जाति-धर्म' (समुदाय विषयक), 'स्वभाव-धर्म' (व्यक्ति-प्रकृति विषयक), एवं 'स्वधर्म' (जीवन के उद्देश्य विषयक) के साथ साथ 'सामान्य-धर्म' (सब के लिये और सदा के लिए)| विशेष परिस्थितियों में भी उचित कार्यवाही के लिए 'आपद-धर्म' का निर्देश धर्म देता है, चाहे वह सामान्य परिस्थिति में अमान्य ही क्यों न हो| सब पर लागू होने वाले एकछत्र नियम का अभाव ही सदा भारतीय जीवन की बहुलता का आधार रहा है| नीतियों के प्रमुख संकलक और नितिशास्त्र में निपुण, प्राचीन भारत के प्रख्यात ऋषि मनु ने, नैतिकता के विषय में स्पष्ट निर्देश दिये, कि प्रशासक को धर्म के सन्दर्भ-संवेदी होने का ध्यान रखना चाहिए| नैतिक सापेक्षता का जो आरोप, इस संदर्भ-संवेदी नैतिकता पर लगा करता है, वह गलत है, क्यूंकि नीयत और उसके परिणाम-स्वरुप अंततः होने वाले व्यवहार के आधार पर ही, नैतिक निर्णयों का मूल्यांकन किया जाता है| किसी को आहत न करना - अहिंसा आदर्श है एवं सत्य, परम धर्म| संदर्भगत नैतिकता, सामान्य-धर्म के पोषण हेतु और उसके अधीन रहकर, व्यक्ति-विशेष को मार्ग-दर्शन देती है| इन दो स्तरों के बीच सम्बन्ध, द्वि-ध्रुवीय (दोनों में से एक का विकल्प) नहीं होकर, सत्य को हर समय दोनों स्तरों पर एक साथ देखने वाला होना चाहिए, जबकि पहली विधि दोनों स्तरों के बीच स्वार्थ के आधार पर निर्णय करने की छूट देती हुई दिख सकती है (घोर तमस की अवस्था में)| सदा इस प्रकार, सन्दर्भ-संवेदी (सापेक्ष) धर्म का पालन करते हुए सन्दर्भ-मुक्त (वैश्विक) धर्म का भी ध्यान रक्खा जाता है| व्यक्ति की चेतना की सात्विक अवस्था में ही जो करना संभव है, वह धर्म की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है और यही उसका स्वधर्म है, जो व्यक्ति-विशेष के लिए परिस्थिति-विशेष के अनुसार ऐसे सात्विक व्यक्ति द्वारा स्वयं तय किया जाता है, जबकि तामसिक एवं राजसिक प्रवृत्ति के व्यक्तियों के लिए हर परिस्थिति के अनुरूप संहिता-बद्ध नियम बने हुए हैं|

अंतोनियो द निकोलस, एक दार्शनिक जिसने कई दशकों तक धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन किया, वे बताते हैं कि धर्म में निहित नैतिकता बिलकुल ही भिन्न प्रकार की है, जो बाहरी नियमों एवं ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों पर निर्भर बिलकुल नहीं करती, और लिखते हैं: - 'किसी व्यक्ति द्वारा वर्तमान के अनुरूप, धर्मानुसार निर्णय, सही एवं विवेकपूर्ण निर्णय लेने की तकनीकों का अभ्यास ही कौशल हेतु प्रशिक्षण कहलाता है...जो ऋग्वेद काल से भारतीय शास्त्रों में व्यक्त है: यहाँ लिए गए निर्णय की नैतिकता पर जोर है, बजाय बाहरी नियमों के तहत निर्णय लेने की नैतिकता पर'| उनका निष्कर्ष है कि, निर्णय लेने की ऐसी पद्यति (कर्ता व दूसरे के बीच अनुबंध के अनुसार, तर्कयुक्त-अनर्थक बातों एवं दिखावटी 'सत्य तलाशने' हेतु...), जो इस ओ़र समर्पित शिक्षा-पद्यति के कारण ऐसी बनी है, कैसे समाज को प्रभावित करती है: यह उसी का प्रतिफल है| पश्चिम ने अपने लोगों को अनुबधों के अनुरूप कार्य करने हेतु प्रशिक्षित किया है - यह सत्य है, यह मिथ्या है - लेकिन इन सब पश्चिमी लोगों में जटिल परिस्थितियों में उचित निर्णय लेने की क्षमता का अभाव है, जहाँ उनके सामने विविध विपल्प होते हैं, और जहाँ उन परिस्थितियों के निरीक्षण हेतु उन्हें, अपनी बुद्धि की आवश्यकता भी हो सकती है|
प्रासंगिक एवं गैर-निर्देशात्मक भारतीय समाज तथा निर्देशात्मक पश्चिमी समाज के बीच कुछ भिन्नताएँ "**विभिन्नता** " के पृष्ठ २३१ पर और 'Being Different' के पृष्ठ २०१ पर उपलब्ध तालिका में स्पष्ट कीं गईं हैं|

सौंदर्यबोध , नैतिकता एवं सत्य : भिन्नता एवं अव्यवस्था के प्रति पश्चिमियों की व्यग्रता को देखते हुए, इसमें आश्चर्य क्या, कि वे भारतीय सौंदर्यबोध से भी चकित एवं व्याकुल हो जाते हैं| पश्चिमी संस्कृति 'गोरेपन', बातचीत एवं व्यवहार में भोलेपन, तथा एक स्पष्ट एवं पुनरावृत्ति-योग्य कला की संरचना, को विशेषाधिकार देती है, जबकि धार्मिक दृष्टिकोण सांवलापन, गूढता, सुशीलता, आशु-रचना एवं रहस्य को पसंद करता है| आगे, प्लूटो से जुड़ने के बाद से ही, पश्चिम ने अच्छाई, सत्य एवं सौंदर्य के तीन मूलभूत मूल्यों को पक्की तरह से जुड़े हुए देखा, जिसके कारण जो 'सुंदर' है, उसे 'अच्छा' होना चाहिए, और इस कारण 'सत्य' भी|

इसके विपरीत, भारतीय मानस में, सत्य, अच्छाई एवं सौंदर्य परस्पर बिलकुल भिन्न हैं, और प्रत्येक मूल्य एक-दूसरे से, अपेक्षाकृत स्वतंत्र रूप से परिचालित है| संस्कृत पद 'सत्यम-शिवम-सुन्दरम' में सत्य प्रमुख है, और 'भले' और 'सुन्दर' से वह प्रबल भी है| यह जरूरी नहीं है कि सौंदर्य और अच्छाई की उपस्थिति का अर्थ, सत्य की उपस्थिति भी दर्शाना है, न ही ऐसा ही है कि सौंदर्य का अभाव, असत्य या नैतिक भ्रष्टता को इंगित करता है| इस प्रकार, नस्लीय-रूढीबद्ध सोच के आधार पर सांवले लोगों के विषय में प्रचार हेतु, ऐसा रूढ़ विचार स्थापित कर, उन्हें नीच बताने के लिए, बाइबिल आधारित ईसाई मत्शास्त्र एवं यूनानी प्रभाव जोड़े गए| अन्य संस्कृतियों के मूल्यांकन के नए आधार स्थापित करने हेतु, पवित्रता तथा विशिष्ट वंशावली-विषयक ईसाई सरोकारों के साथ सुंदरता एवं सौंदर्यबोध के यूनानी मापदंड प्रयोग किये गए, जिन संस्कृतियों को अक्सर कुरूप, असभ्य, व स्वछन्द-सम्भोगी - और उनके देवताओं एवं प्रतीकों को विषम, अस्पष्ट, डरावना तथा यहाँ तक, हास्यप्रद भी करार दिया गया| ये पूर्वाग्रह कितने ही नासमझ एवं निरर्थक आज क्यूँ न माने जांय, लेकिन पश्चिम के साथ गैर-गोरे लोगों की भिडंत पर, इनका बड़ा ही जहरीला प्रभाव पड़ा है, जो आज तक भी पश्चिमी सोच एवं दृष्टिकोण को, भारत एवं भारत के लोगों के प्रति सतही और गहन, दोनों तरीकों से प्रेरित करता है, और पश्चिम की परम हिंसात्मक एवं आक्रामक, वर्चस्व की परियोजनाओं को उनके विरुद्ध अन्जाम देता रहता है|

सौंदर्य का सत्य एवं अच्छाई, और तीनो का पश्चिमी सभ्यता के साथ साहचर्य, उनके लौकिक विचार में भी प्रकट होता है| भारत के लोगों पर कैंट (Kant) ने, उदाहरण के लिए, उनकी कला एवं धार्मिक सौंदर्यबोध के आधार पर हल्ला बोला, जिसे उसने 'विकृत' माना| बहुत शीघ्र हम इन दृष्टिकोणों के कुछ पुराने विवरणों पर विचार करेंगे, खास तौर पर, ईसाई मत्शास्त्र में उनकी जड़ों एवं इस मत्शास्त्र के यूनानी मूल्यों से विलय के फलस्वरूप जो हुआ| अदालत में उपस्थित होने के लिए, पश्चिमी वकील अपने मुवक्किलों को औपचारिक वेशभूषा एवं अपने बालों को स्वच्छ तथा तरतीब से बनाने की सलाह देते हैं, क्यूंकि आप कैसे दिखते हैं, यह आपकी नैतिकता एवं सत्यवादिता प्रदर्शित करता है| 'अव्यवस्थित व्यवहार' जुर्म होने तथा 'अव्यवस्थित' सौंदर्यबोध के कारण, कई बिलकुल निर्दोष व्यक्ति पश्चिम में दिक्कत में पड़ चुके हैं|

अश्वेत विद्वानों ने प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार अश्वेत सौंदर्यबोध को अक्सर, दुष्टता एवं अतार्किकता से जुड़ा हुआ दिखाया जाता है, और किस प्रकार यह उस अवधारणा को बल देता है कि, गोरे लोग भलाई एवं सत्य के रक्षक हैं| जो भी हो, उदाहरण के लिए, जैसे ही एल्विस प्रेसले ने अश्वेत संगीत की नक़ल कर उसे गोरे श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया, वह श्वेत संस्कृति में समायोजित हो गया, और तब वह अराजक तथा खतरनाक नहीं रहा| अफ्रीकन-अमरीकनों को साधुवाद, कि उनके प्रयासों से सार्वजनिक मंच पर नैतिकता एवं गोरेपन के बीच की संगति को चुनौती दी गई है, चाहे यह अभी भी दृढ है और नुकसान पहुंचाती रहती है|

बाइबिल का उपयोग कुछ नस्लों या वंशावलियों के दमन को उचित ठहराने हेतु किया गया था, जिन्हें तथाकथित नैतिक-अधमता का दोषी मान लिया गया होगा| सं १५१७ और १८४० के दौरान कोई दो करोड़ अश्वेत, अफ्रीका में पकड़े गए और अमरीका को भेजे गए और इस प्रकार गुलाम बनाये गए जिसे जातिगत विध्वंस की संज्ञा दी जानी चाहिए| विलियम जोन्स (१७४६-'९४) ने संस्कृत कथाओं को बाइबिल की घटनाओं से सहसंबद्ध किया तथा संस्कृत शास्त्रों का उपयोग इस इरादे से किया, कि यह दावा किया जा सके, कि हिंदुओं का चरित्र हैम जैसा है, जो नोहा के तीन बेटों में से एक था, जिसे उसके पिता ने धिक्कारा था, क्यूंकि उसने उनकी नंगई पर हँसी उड़ाई थी - और इस प्रकार हैम की विरासत को 'बुरा' या 'अपवित्र' माना गया| चूँकि ईसाइयत एकमात्र सत्य-मत माना गया था, जोन्स ने ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को ईसाई-त्रिदेव का विकृत संस्करण माना, क्यूंकि मूर्ति-पूजा के कारण इश्वर-कृपा न पाने से उनका पतन हुआ माना गया| हिंदू धर्म को पचाने का प्रारंभिक काम उसने, केवल ईसाइयत की विश्वसनीयता को स्थापित करने के उद्देश्य से ही किया| अमरीका में बसने वाले प्रारंभिक यूरोपीय लोगों ने भी वहां के मूल निवासियों को दुष्ट या पिछड़ा मानने हेतु, जिन्हें वे अव्यवस्थित दशा में शनिदेव के बीहड़ में रहने वाले करार देते थे, इसी प्रकार की वैचारिक संरचना के प्रभाव में काम किया था| इसी पृष्ठभूमि में हम समझ सकते हैं कि, आधुनिक पश्चिमी कला-क्षेत्र में ईसा कैसे 'गोरे बने', जब कि वे वास्तव में मध्य-पूर्व क्षेत्र के लक्षण वाले श्याम वर्ण के रहे होंगे| पुनः उनके इस नवीकरण के बाद, उनकी नीली आखें बीसवीं सदी के अमरीका में लोकप्रिय हुईं| गरीबों को उनकी मूल अनैतिक संस्कृति से बचाने हेतु आज तक, इस विचारधारा के औचित्य के आधार पर ही ईसाई धर्मान्तरण की परियोजनाओं को अन्जाम दिया जाता है|

धार्मिक वन एवं यहूदी-ईसाई मरुस्थल : वन को प्रायः अराजक, भ्रमपूर्ण एवं घबराहट-भरा स्थान माना जाता है पश्चिम में; वह डांटे (Dante) का 'अंधकारमय जंगल' है, जहाँ 'सीधा रास्ता भटका देता है'| मरुस्थल प्रकाश का स्थान है, जहाँ सत्य की अपनी स्याह-सफ़ेद परमावस्था एवं कठोरता का इल्हाम होता है| वह

खाली, बंजर एवं सपाट भी है| धार्मिक वन के मुकाबले, दूसरी ओर इब्राहिमी मजहबों को मरुस्थल के परिवेश ने, उन्हें उनका स्वरुप दिया है| मजहबी चरम अवस्थाएँ मरुस्थल में अनुभव होती प्रतीत होतीं हैं; वह प्रायश्चित करने का स्थान है| मरुस्थल के निवासी हरियाली के लिए तरसते हैं, यहाँ तक कि इसी लिए यह उनका (जैसे इस्लाम में) पवित्र रंग है| श्री अरविन्द कहते हैं, 'पश्चिमी मानसिकता ने बहुत लंबे समय से मानवता के लिए एक मजहब के आक्रामक और असंगत विचार को गले लगाया है, एक ऐसे वैश्विक मजहब को, जो अपनी पूरी संकीर्णता के बल पर सब पर लागू हो सकेगा'|

इसके विपरीत, अरण्य भारतीय धार्मिक परम्पराओं में, आश्रय, अतिथि-सेवा एवं गहन आध्यात्मिक प्रेरणा का स्थान है| वन-क्षेत्र सदा से ही भारत में अनुग्रह का प्रतीक रहा है, जहाँ उर्बर्ता, बहुलता, संयोजन, परस्पर-निर्भरता एवं उद्भव का भाव व्याप्त रहता है, जो जीवन के नवीन रूपों के पुनर्वास तथा उनके आतिथ्य हेतु सदा तत्पर रहता है और जहाँ हिंदू, सन्यास के पूर्व वानप्रस्थ आश्रम में जीवन व्यतीत करते हैं| वन ऐसे स्थान हैं, जहाँ व्यवस्था एवं अव्यवस्था परस्पर संतुलन में रह सकते हैं| वन कभी भी अपने अंतिम-चरण में या परिपूर्ण-अवस्था में नहीं हुआ करते, एवं उनकी विविधता परमेश्वर की सर्वव्यापकता की एक अभिव्यक्ति है| नदियों के किनारे इन परम्पराओं ने जड़ें पकड़ीं, जिनमें पवित्र जल बहता रहता था, जो नदियां परिवर्तन एवं उद्भव के प्रतीक हैं| वन की उपमा से सम्बंधित वृक्ष, बरगद का पेड़ है, जो एशिया भर की कथाओं एवं आख्यानों में प्रिय है, जो एक ही संरचना होते हुए भी, एक जटिल, विकेन्द्रित संगठन की तरह, पक्षियों, पशुओं एवं मनुष्यों को शरण तथा पोषण प्रदान करता है| वह बहुकेंद्रिक है| इसी प्रकार, भारतीय सभ्यता एक फैला हुआ तंत्र है, जिस पर किसी का कोई केन्द्रीय नियंत्रण नहीं है, जिसकी उदार संरचना में सब कुछ बाहर और भीतर से परस्पर गुंथे हुए हैं| सन्दर्भ-संवेदी संस्कृतियों की उपमा के रूप में भी अरण्य, सटीक बैठता है, जिससे स्पष्ट होता है कि क्यूँ धार्मिक संस्कृतियों में रहने वाले लोग संज्ञानात्मक (cognitive) जटिलताओं में अधिक सहजता से रह पाते हैं|

पश्चिमी जोकर एवं भारतीय विदूषक : व्यवस्था एवं अव्यवस्था के विषय में किसी संस्कृति के मिथक, उसके अवचेतन में अंदर तक सन्निहित हो जाते हैं| व्यवस्था एवं अव्यवस्था के प्रति उसके दृष्टिकोण, इस प्रकार कलाओं के क्षेत्र में जो उसकी रुढियों, उपमाओं, एवं प्रतीकों पर आश्रित हैं, सूक्ष्म रूप से प्रकट होते रहते हैं| जोकर के रूप में प्रचलित बैटमैन की छवि के द्वारा, अव्यवस्था के प्रति पश्चिमी बेचैनी को होलीवुड ने खास तौर पर, प्रभावी तरीके से व्यक्त किया है, जो व्यवस्था/अव्यवस्था को परस्पर अलग एवं विरोधी तत्वों के रूप में प्रस्तुत करता है, और लेखक इसकी तुलना करते हैं, संस्कृत महाकाव्यों एवं नाटकों में कुरूप विदूषक से, जो अव्यवस्था का प्रतीक है और जो व्यवस्था के प्रतीक, सुंदर राजा का बराबरी का मित्र और सदा उसके साथ रहता है| समाज के सुचारू सञ्चालन को सुनिश्चित करने हेतु, अव्यवस्था की शक्तियों के, विवेक एवं चतुराई से व्यवस्था में समन्वय का यह एक अचेतन सन्देश देता है| इन उदाहरणों से हम यह देखते हैं कि व्यवस्था एवं अव्यवस्था की पश्चिमी अवधारणाएँ द्विविधा (binary) युक्त हैं; उनके यहाँ ये दो विपरीत ध्रुव हैं, जिनमें से सभ्यता एवं जो भला और ईश्वरीय है, का प्रतिनिधित्व व्यवस्था करता है, तथा जो सभ्यता एवं भलाई तथा ईश्वरत्व का विरोधी है - का प्रतिनिधि अव्यवस्था है| भारतीय दृष्टिकोण अविभाज्य है, जो इन दो विपरीत परिस्थितियों को, सभ्यता के आवश्यक पहलुओं तथा उन्हें संपूरक एवं संवादात्मक शक्तियों के रूप में देखता है, लेकिन वह यह भी मानता है कि इन दोनों के बीच में समेकन तथा सामंजस्य की स्थिति को एक उच्चतर एकता के सिद्धांत की ओर ले जाना आवश्यक है, ताकि इन परिस्थितियों को अपने अपने

कार्य-संपादन के लिए एवं अपनी पूर्ण तथा उच्चतम अवस्था तक पहुँचने हेतु, पूरा अवसर मिल सके|

#४: संस्कृतियों को सोच-समझकर पचाना बनाम अनुवादेतर संस्कृत

पश्चिमी विद्वानों एवं उनके प्रभाव में आए भारतीयों को यह आदत पड़ चुकी है कि, वे भारतीय धार्मिक अवधारणाओं तथा दृष्टिकोणों को, पश्चिमी चौखटों में बैठाने हेतु उनका शब्दशः अनुवाद कर उस चौखट को समृद्ध तो करते ही हैं, व जो उन्हें पचा रहा है, उसको इस समायोजन से वे संभवतः, नवीकृत भी कर देते हैं| जब अपने शिकार को बाघ पचा लेता है, तब यह नहीं कहा जाता है कि इस पचाने से दोनों 'पहले से और अच्छे हो गए हैं' या दो प्रकार के जानवर 'एक-दूसरे में मिलकर' और अच्छा जानवर बन गया है| बल्कि, बाघ का शिकार इस प्रक्रिया में टूट-फूट कर भोजन के रूप में उसके शरीर का हिस्सा बन जाता है, और पचे शिकार का नामों-निशान मिट जाता है| धार्मिक परंपराओं तथा ज्ञान को जब एक बार पश्चिमी मिलती-जुलती शब्दावलियों के समकक्ष बैठा दिया जाता है, जो उनकी भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं हैं, तब वे विकृत होकर मिटा भी दिए जाते हैं|

यह समस्या विशेषरूप से तब गंभीर हो जाती है, जब संस्कृत में व्यक्त धार्मिक अवधारणाओं को पश्चिमी भाषाओँ में अनूदित किया जाता है, खास तौर पर जब राजनैतिक संतुलन बराबरी का न हो| सब भाषाओँ के समान न केवल संस्कृत, सूत्र रूप में विशिष्ट एवं अद्वितीय सांस्कृतिक अनुभव तथा विलक्षणताओं को धारण किये हुए है, साथ ही वह जिन आकारों, ध्वनियों एवं अभिव्यक्तियों के प्रभावों को प्रकट करती है, उन्हें उन शब्दों के गहन अर्थों से पृथक नहीं किया जा सकता है| दिव्य ध्वनियां जो संस्कृत भाषा है, ऐसी ही मनमानी परम्पराओं से नहीं उपजी हैं, बल्कि प्राचीन काल के भारतीय ऋषियों द्वारा आतंरिक विज्ञानों पर आधारित, अपनी आध्यात्मिक साधनाओं से खोजी गयीं थीं| अपने आदि श्रोत की खोज हेतु, संस्कृत भाषा एक अनुभव-आधारित व्यवस्थित मार्ग प्रस्तुत करती है, केवल मात्र संचार हेतु साधन के रूप में ही नहीं, बल्कि स्वानुभूत ज्ञान के संवाहक के रूप में भी| भारत, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा पूर्वी एशिया के आध्यात्मिक मार्ग-दर्शकों द्वारा कई सदियों तक जिसको एक संपर्क भाषा के रूप में उपयोग किया गया था, वह संस्कृत भाषा संस्कृति के संवाहक के रूप में, विशिष्ट भाव की व्यवस्थाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का एक सांस्कृतिक सांचा बन गई थी| दर्शन, कला, वास्तु-कला, लोकप्रिय-गानों, शास्त्रीय-संगीत और नृत्य, रंगमंच, मूर्तिकला, चित्र-कला, साहित्य, तीर्थ-यात्रा, कर्म-कांड तथा विभिन्न मतों के आख्यानों का वांग्मय-कोष संस्कृति है, जो सभी अपनी अपनी विधाओं से भारतीयता के संस्कृतिक लक्षणों को प्रकट करते हैं| इसमें प्राकृतिक विज्ञानों एवं तकनीकों की सभी शाखाएँ, गणित, अभियांत्रिकी, वनस्पति-विज्ञान, चिकित्सा (पशु-चिकित्सा समेत), आहारिकी, आदि भी सम्मिलित हैं|

संस्कृत की अनुवाद-अयोग्य प्रकृति एवं इस गुण के जितने भी परिणाम निकल सकते हैं, वे सभी भारतीय धर्म के पश्चिम में सांस्कृतिक समायोजन से भ्रष्ट हो जाते हैं| इस समायोजन के दौरान, पश्चिम से निर्णायक भिन्नताएँ एवं उन भिन्नताओं की समझ खो जाती है, सभी हो सकने वाले महत्वपूर्ण प्रयोगाश्रित अनुभवों पर प्रतिबन्ध लग जाता है, तथा धर्म के अत्यधिक उर्बर, उत्पादक एवं दिव्य आयाम नष्ट हो जाते हैं और पुरावस्तु की तरह उन्हें एक ओर धकेल दिया जाता है| यद्यपि यहूदी-ईसाई मजहबों की भी अपनी पवित्र भाषाएँ हैं - हीब्रू तथा लैटिन, लेकिन संस्कृत की तरह ये एकीकृत सभ्यताओं के आधार कभी नहीं बने| ईसाइयत किसी पवित्र भाषा से संचारित नहीं हुई थी, बल्कि पहले प्राकृत एरैमिक के द्वारा संचारित हुई, जो भाषा कहा जाता है कि ईसा बोलते थे, और फिर भूमध्यसागर के तटीय क्षेत्र की कोइने-यूनानी, बोलचाल की

भाषा में प्रचारित हुई|

नवविधान (New Testament), अपने अनगिनत अनुवादों के माध्यम से परमेश्वर के किसी प्रत्यक्ष अनुभव का प्रचार अथवा वर्णन नहीं करता है, बल्कि परमेश्वर के बारे में 'गौस्पल' या एक सन्देश (जिसका अर्थ है 'शुभ समाचार') देता है| नव विधान में महत्व है, उन शब्दों के अर्थ एवं ऐतिहासिक कृत्यों का, जो इन शब्दों द्वारा विस्तार से बताये गए हैं - उनको ध्यानपूर्वक सुनने से होने वाली आत्मिक अनुभूति, यदि वह होती हो तो, या उनकी ध्वनि या अनु-गूँज को सुनने का कोई महत्व नहीं है|

अध्याय ५ – अनुवादेतर संस्कृत बनाम उसे पचाया जाना :

कई संस्कृत शब्दों का तो अनुवाद हो ही नहीं सकता है| मुख्य संस्कृत शब्दों की यह अरूपांतरणशीलता इस बात का प्रमाण है कि, कई भारतीय परम्पराएँ पचाई नहीं जा सकतीं हैं| संस्कृत शब्दों को मूल रूप में ही बनाये रख कर उनके व्यापक अर्थों को सुरक्षित रखना ही, उनपर बाहरी औपनिवेशिक कब्जे का सामना करने एवं धार्मिक ज्ञान को सुरक्षित रखने का एक प्रभावी तरीका है| कई पश्चिमियों की यह धारणा है कि संस्कृत में समाया हुआ धार्मिक ज्ञान दूसरी भाषाओं में अनूदित हो सकता है, जैसे - 'ओम' 'आमीन', 'शांतिः' 'पीस', 'ब्रह्म' 'गौड' आदि के रूप में अनूदित हो सकते हैं| लेखक का यह मानना है कि ऐसा बिलकुल नहीं हो सकता है|

प्राचीन होते हुए भी, संस्कृत अपनी गहन रचनात्मक क्षमता के लिए आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है| कोई संस्कृति अपने भूगोल एवं इतिहास के संचयी तथा सामूहिक विशिष्ट अनुभवों को ही अभिव्यक्त करती है| किसी संस्कृति को समझना उसे जीने जैसा है और विभिन्न संस्कृतियों के विशिष्ट अनुभवों की अदला-बदली, हमेशा नहीं की जा सकती है, और जिन शब्दों से इन अनुभवों को संदर्भित किया जाता है, उन्हें सुरक्षित रखना आवश्यक है; यदि भाषाई वर्गीकरण खो जायं, तब समयांतर में सांस्कृतिक अनुभव की विविधता भी खो जाती है| कई सांस्कृतिक शिल्पकृतियों के समानार्थी दूसरी संस्कृतियों में नहीं होते, और ऐसी शिल्पकृतियों को उन सांचों में बैठाना जिन्हें पश्चिम स्वीकार करे या जिन्हें वे समझें - केवल हड़पने के लिए, यह सरासर उन्हें विकृत करने जैसा ही है| यह भी एक प्रकार का छद्म उपनिवेशवाद एवं सांस्कृतिक आधिपत्य है| संस्कृत में ऐसे कई विशिष्ट गुण हैं जो भारतीय धार्मिक-दर्शन की अद्वितीय एवं अन्तर्निहित-रूप से सन्दर्भ-संवेदनशील, उस प्रकृति को प्रकट करते हैं, जहाँ से संस्कृत का उद्गम हुआ था| संस्कृत की अरूपांतरणशीलता का एक और गहरा श्रोत भी है: समान आधारभूत कम्पनों द्वारा उसकी मूल ध्वनियों में परत-दर-परत के बीच संपर्क एवं अंतर्संबंध स्थापित हैं| किसी शब्द का समग्र अर्थ इसलिए, बीजगणित के सूत्र की तरह, उसके कई मूल भावों का जोड़ होता है| कोई विदेशी संस्कृति, विशेषतः यदि वह औपनिवेशिक भी हो, जब संस्कृत के नाम पर अपने सपाट अनुवाद थोपने लगे, तो बहुत बड़ी हानि हो जाती है| इस से भी बड़ी हानि तब होती है जब ऐसी पराधीन संस्कृति के मूल निवासी, इन विदेशी अनुवादों को अपना ही मान लेते हैं - एक ऐसी धीमि प्रक्रिया के द्वारा जो प्रायः सूक्ष्म होती है और जिसके साथ साथ जुड़े होते हैं इन परिवर्तनों को आत्मसात करने हेतु, शक्तिवान संस्कृति द्वारा प्रदत्त प्रोन्नति के प्रोत्साहन|

कंपन-शील अभिन्न एकता : संस्कृत क्यूँ इतनी विलक्षण एवं अरूपांतरणशील है तथा क्यूँ उस पर आधारित सभ्यताएँ औरों से इतनी भिन्न हैं, यह समझने के लिए हमें वेदों में ध्वनि तथा भाषा की समझ को और

गहराई से देखना होगा| आदि काल से ही, भारतीय ऋषियों और वैय्याकरणों का यह विश्वास रहा है कि समग्र शाश्वत यथार्थ, मूल कम्पनों से ही निर्मित है, यह कि ये कंपन, ब्रह्माण्ड के ह्रदय की धडकनें जैसी हैं| कालांतर में जैसे जैसे इन ब्रह्मांडीय कम्पनों के गूँज की प्रतिध्वनियाँ खोजी गईं, वैसे वैसे ही संस्कृत के वर्णाक्षर जन्म लेते गए, जिस प्रक्रिया के दौरान, ध्वनियों से उनके अर्थ, मनमाने तरीके से नहीं जोड़ दिए गए| मानवीय भाषा तथा अवधारणाएँ एवं विषयवस्तुएँ, जिनकी प्रतिनिधि ये ध्वनियाँ हैं, यथार्थ के विभिन्न स्तरों पर, इन कम्पनों की इन्द्रियगम्य बाहरी अभिव्यक्तियां मात्र हैं|

इस गहरे यथार्थ की खोज, जिससे ध्वनि एवं आकार उभर कर आते हैं, किन्हीं पैगम्बरों (जो केवल परमेश्वर के सन्देशों का संचार करते हैं) के द्वारा अथवा बुद्धि के आधार पर हुए किसी अनुसन्धान से नहीं हुई थी, बल्कि सिद्धों के गहरे ध्यान में उनके प्रत्यक्ष अनुभव से हुई थी, जिनमें से प्रत्येक को ऋषि कहा गया जिनकी अद्भुत क्षमताएँ, उन्हें अनंत के कम्पनों को एवं उन मूर्त विषयवस्तुओं को, जिनसे वे कंपन सम्बंधित हैं, का प्रत्यक्ष अनुभव करा देतीं हैं| ऋचाएँ जिन्हें मन्त्र कहा, उनकी रचना ऋषि नहीं करते, वरन उन्हें वे सुनते हैं या उनकी लय में तल्लीन हो जाते हैं| संस्कृत शास्त्रों को बुद्धि से समझा जा सकता है, लेकिन इनमें से कई अनुभवसिद्ध 'अर्थवान' कम्पनों के अनुक्रम हैं, जिन्हें केवल योगिक साधना से ही अनुभव किया जा सकता है| ध्वनि के रूप में उन शास्त्रों की मूल प्रकृति ही उन्हें अरूपांतरणशील बना देती है| जो भी हो, संस्कृत के किसी भी मन्त्र का वास्तविक प्रयोजन उसके प्रभाव के रूप में प्रकट होता है| लेखक संस्कृत को अद्वितीय बताते हैं, खास तौर पर इस लिए कि, जिस प्रकार से ध्वनि समग्र यथार्थ के अदृश्य कम्पनों को अभिव्यक्त करती है| भारतीय धार्मिक भावों की, ब्रह्माण्ड की आधारभूत एकता में विश्वास एवं यह भी कि, किस प्रकार संस्कृत उस एकता को प्रकट और प्राप्त करने में सहयोग देती है, लेखक इस विषय पर इस अध्याय में उसकी चर्चा करते हैं|

प्रत्यक्ष अनुभव एवं परमपराएँ : भारतीय भाषाई सिद्धांत एवं भाषणगत परंपराएँ एवं अभ्यास अत्यधिक परिशुद्ध हैं, तथा उनके अध्ययन और अर्थ, अध्यात्म एवं संप्रदाय-विशेष के मानने वालों के संप्रदाय से सम्बंधित प्रशिक्षण से विलग नहीं रहते हैं| कई भारतीय परम्पराओं ने संस्कृत की, आदिकाल की मौलिकता को आत्मसात करने का प्रयास किया है| 'स्फोट' सिद्धांत कहता है कि 'ध्वनि' एवं 'अर्थ' वास्तव में एक सिक्के के दो पहलू हैं और वे अपने अव्यक्त सूक्ष्म भाव से ही अभिन्न हैं| वेद 'वाक्' के रूप में इस आदिकालीन कंपन के मूर्त रूप हैं, जो विचारों, लयबद्ध कम्पनों एवं स्थूल पदार्थों को निर्मित करने वाले बीज ध्वनियों को जन्म देने वाली एक देवी है| वह विभिन्न लोकों को उत्पन्न करने वाली है एवं जिस पदार्थ से वे लोक रचे गये हैं, को जन्म देती है| काश्मीर शैव संप्रदाय का मत है कि वाक् के चार स्तर हैं: परा (अव्यक्त), पश्यन्ति (सूक्ष्म संभाव्यता), मध्यमा (वैचारिक संकल्पना), एवं बैखरी (स्थूल वाणी)| शिव-सूत्र के अनुसार, आम जानकारी, रोज़ मर्रे के प्रतीयमान व्यावहारिक संपर्क से प्राप्त होती है, और यह जानकारी बाहरी दुनिया से सम्बन्ध रखती है| लेकिन स्वयं इन दैनिक संपर्कों को परस्पर जोड़ने की आवश्यकता होती है, और जिस ऊर्जा से ऐसा होता है उसे 'मात्रिका' कहते हैं, जो शब्दों एवं प्रतीकों को हमारी समझ में आने के लायक बनी भाषा का रूप प्रदान करने हेतु, उन्हें एक धागे में पिरो देती है| ब्रह्माण्ड की आदि-कालीन ध्वनिक चेतना को 'शब्द-ब्रह्म' कहते हैं| रिचर्ड लैनॉय का मानना है कि हर हिंदू अपने को एक सूक्ष्म-ब्रह्मांडीय जीवधारी के रूप में देखता है, ऐसा जीव-धारी जो बृहद-ब्रह्माण्ड अथवा प्रकृति का ही एक हू बहू प्रतिरूप है| पतंजलि-योग-सूत्र में इस 'ऋतम्भरा-बुद्धि' (दृष्टि, परख) का उल्लेख है, जो पूरे ब्रह्माण्ड का तत्काल परिशुद्ध

प्रत्यक्ष संवेदी ज्ञान प्राप्त करने हेतु, योग-शक्ति के माध्यम से योगी के लिए ऐसा करना संभव कर देती है|

ध्वनि के अर्थ एवं विषयवस्तु की एकात्मता : जैसे पहले बताया जा चूका है, हर विषयवस्तु के मूल तत्व की खोज जो हुई, ऋषियों द्वारा आत्मज्ञान के माध्यम से प्राप्त उस परम एकता की अनुभूति के आधार पर सिद्ध की गई विधि से ही संस्कृत की उत्पत्ति हुई| इससे न केवल जीवजगत के प्राणियों एवं वनस्पतियों के विषय में उनका वर्गीकृत-ज्ञान बढ़ा था बल्कि, साथ ही उन सब के प्रति समानुभूति तथा सहज श्रद्धा भी होती चली गई, जैसा कि आज के समाज में प्रचलित पर्यावरणीय कानूनों के कृत्रिम-अनुपालन के ठीक विपरीत होता है और जो स्वयं प्रायः राजनैतिक या व्यावहारिक निर्देशों के परिणाम स्वरुप हुआ करते हैं ('**विभिन्नता** ' के पृष्ठ २५५ पर एवं **'Being Different'** के पृष्ठ २२५ पर इसका आरेखी निरूपण प्रस्तुत है)| भारतीय वैय्याकरण ब्रह्माण्ड-विज्ञानी भी होते हैं, जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त नियमितता (ऋतम्) को व्याकरण के नियमों के सदृश्य देखते हैं| इस प्रकार, भारतीय भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान एवं ब्रह्माण्ड-विज्ञान अपने अपने शिक्षण से एक ही यथार्थ की व्याख्या करते हैं| योग की वैदिक समझ के संकेत, बुद्धि और विषयवस्तु की एकजुटता को प्रकट करने वाले शब्दों से विदित होते हैं| शब्दों के साथ साथ संगीत के सम्मिश्रण को लैनॉय ने, प्राचीन भारत के महान दार्शनिक चिंतन की एक महान उपलब्धि कह कर संबोधित किया|

मन्त्र: हर मन्त्र अस्तित्व के ऐसे सूक्ष्मतम स्तर से जन्म लेता है, निस्तब्धता जहाँ व्याप्त है| यह खोजने के उपरांत कि कंपनों की अभिव्यक्ति, स्थूल ध्वनियों तथा पदार्थों के रूप में होती है, ऋषियों ने मूल श्रोत एवं ऐकमेवाद्वितियम-चेतना की आदि-अवस्था तक पहुँचने हेतु, अनेक ध्यान-पद्यतियों के माध्यम से, मन्त्रों का प्रयोग कर, ऐसी विधियों की खोज की जो 'अपौरुषेय' या किसी के द्वारा प्रकट नहीं की गयीं| इस प्रकार, संस्कृत आत्मज्ञान प्राप्त करने का एक साधन और मूल श्रोत तक वापस लोटने की अनुभवजन्य विधि भी प्रस्तुत करती है| अभिव्यक्ति के ही प्रक्षेप-पथ को उलटने हेतु भी, संस्कृत को मानव ध्वनियों से आरंभ कर श्रृष्टि के श्रोत तक पहुँचने की एक विधि के रूप में उपयोग किया जा सकता है| इस लिए, मन्त्रों को जिन्हें उर्जा-विचार-ध्वनियों के समुच्चय के रूप में माना जाता है, वे मन-माने पद्य नहीं हैं, न ही उन्हें केवल अवधारणाओं की दृष्टियों से ही समझा जा सकता है| उनके गहनतम सत्य की प्रकृति स्पन्दनशील है, और ये स्पंदन हमें चेतना के उन स्तरों तक पहुंचा सकते हैं जो भाषातीत हैं| शैशवावस्था में संस्कृत और मन्त्रों को कंठस्थ करा कर सिखाने का एक कारण यह भी है कि, इसके पूरे प्रभाव एवं लाभ का अनुभव बहुत समय बाद तक हो सकता है| श्री अरविन्द, जिस विचार को 'निवर्तन' (involution) कहते हैं, वह बाद में होने वाले 'विवर्तन' (evolution) का आध्यात्मिक आधार है, जिस प्रकार एक बीज से एक पेड़ बड़ा होता है| किसी मन्त्र का लाभ केवल उच्चारण करने वाले को ही नहीं, बल्कि मानव-मात्र तथा पूरे ब्रह्माण्ड को भी होता है|

संस्कृत की खोज : योग के अनुभवों को संस्कृत के अलावा किसी अन्य भाषा में ठीक ठीक व्यक्त करना कठिन है, जैसे कि श्री अरविन्द ने कहा है कि योग के अनुभव केवल संस्कृत में ही व्यवस्थित रूप से प्रकट किये गए हैं, जिसे इसी लिए, 'योग की भाषा' भी कहा जा सकता है| संस्कृत दर्शन बताता है कि जिन ऐकाक्षरीय ध्वनियाँ से संस्कृत अक्षर निर्मित होते हैं, वे श्रृष्टि के उद्गम में ही हैं| वास्तव में, संस्कृत भाषा का कोई ध्वनिग्राम, जिसकी बीज-ध्वनि ही उसकी अभिव्यक्ति को संदर्भित करती है, स्वयं यथार्थ की प्रकृति को प्रकट करती है|

अन्य भाषाओँ में, हीब्रू इसी प्रकार के दावे करती है| स्वयं हीब्रू भाषा पवित्र लिपि मानी जाती है, और इसके अक्षरों के आकारों एवं ध्वनियों के साथ कई रहस्यमयी परंपराएँ जुड़ी हुई हैं, जिनमें वे अक्षर सम्मिलित हैं, जिनसे परमेश्वर के प्रचलित नाम जेहोवाह या याह्वेह लिखे जाते हैं, वे इतने पवित्र तथा आध्यात्मिक उर्जा से भरे हुए माने गए हैं, कि सामान्य लौकिक व्यवहार में उन्हें बोलने तथा लिखने पर सख्त प्रतिबन्ध है| फिर भी, यहूदी परंपरा में, ध्वनियों के श्रोत का स्थान भिन्न रूप से है तथा लिखित भाषा की आकृति एवं मुद्रा पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जबकि संस्कृत का लिखित स्वरूप उसके उद्गम के काफ़ी समय के बाद आया था, और वह स्पष्टतया आरंभ से ही एक वाचिक परंपरा रही है| इस्लाम, भी, कुर्रान के अरबी उच्चारण के विशेष कम्पनों का उल्लेख करता है (जिसके कारण उस अरबी भाषा को कंठस्थ करना एवं उसका वाचन करना, अपने आप में मजहबी साधनाओं के रूप में माना जाता है)| लेकिन सामान्यतः, हीब्रू तथा अरबी को यहूदी एवं इस्लामी परम्पराओं में, क्रमशः बाहरी परमेश्वर द्वारा रचा हुआ माना गया है, जबकि संस्कृत में उसके मूल कंपन ही स्वयं परम-यथार्थ हैं, जिन्हें श्रृष्टि को जन्म देने वाला नाद ब्रह्म कहा जाता है|

एक शब्द कई अक्षरात्मक ध्वनियों का संयोजन है| अंग्रेज़ी के मामले में, शब्दों के कई अर्थ शब्दकोष बताता है, फिर भी मुख्य ध्वनिग्रामों अथवा अक्षरों के कोई अपने अर्थ नहीं होते हैं| ये मानवीय व्यवहारों एवं रिवाजों के माध्यम से विकसित हुए माने जाते हैं| संस्कृत में, जबकी, प्रत्येक ध्वनिग्राम की बीज ध्वनि के रूप में उसके कई समृद्ध अर्थ होते हैं, और साथ ही वे सब, व्यक्ति की चेतना पर भी अपना विशेष प्रभाव डालते हैं| इस प्रकार, शब्द की शक्ति (उसकी पवित्र ध्वनि), मुक्ति-प्रदायक है, क्यूंकि वह परम शाश्वत यथार्थ तथा चेतना की प्रकृति को समझने की अंतर्दृष्टि प्राप्त करने हेतु एक साधन भी है|

संस्कृत एवं बहुलता वाद : संस्कृत एक सदाबहार रचनात्मक भाषा है, जिसका प्रत्येक शब्द विचारों का जन्मदाता तथा उनकी रचना करने वाला है| वर्णमाला का हर वर्ण 'अक्षर' कहलाता है, जिसका शब्दशः अर्थ, अक्षय अथवा शाश्वत होता है| अक्षर का दूसरा नाम 'वर्ण' है, जिसका अर्थ रंग है और उनसे निर्मित होती है अक्षरों की 'वर्णमाला', एक 'रंगों की माला' जिन्हें एक कलाकार यथार्थ का चित्र बनाने हेतु प्रयोग करता है| इस प्रकार हर अक्षर को ध्वनि के रूप में सुना जाता है एवं अभिव्यक्त होते ही, उसका एक रंग होता है|

एक ही बीज ध्वनि के बहुविध अनुभव: बीज ध्वनियों से कई सुनिश्चित संकेतार्थ, आशय और सूक्ष्म भेद वाले शब्द जन्म ले सकते हैं, जो निर्भर करता है कि कैसे उन्हें बांधकर अन्यों से जोड़ा गया है| चूँकि प्रत्येक शब्द की खोज एक समग्र योगिक अनुभव के फलस्वरूप हुई है, एक बीज ध्वनि या शब्द के प्रायः, बहुविध अर्थ होते हैं, जो एक दुसरे के विपरीत भी हो सकते हैं| जब किसी बीज ध्वनि से कोई शब्द बनाया जाता है, तब उसकी ध्वनि में स्थापित सिद्धांतों के आधार पर रूपांतरण हो जाता है| किसी विशेषज्ञ द्वारा रचे गए नए शब्द पर जब कोई ध्यान केंद्रित करता है, तब सुनने वाला उस शब्द का अन्वय कर, उसका प्रस्तावित अर्थ जान लेता है| इसका अर्थ यह है कि संस्कृत की विशाल शब्दावली, नए शब्दों की रचना हेतु अनंत रूप से खुली हुई है और उसका फैलाव भी अनंत है| इस प्रकार, संस्कृत उदार संरचना की धनी, एक व्यवस्था मानी जा सकती है| एक बीज ध्वनि के बहुविध स्तरों वाले अर्थ होते हैं, जिनसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द किसी भिन्न लेकिन सम्बंधित अनुभव से संगति रखता है|

उपशब्द-पर्यायवाची शब्द निरर्थक नहीं हैं: कई शब्दों के बड़ी संख्या में उपशब्द होते हैं और हर उपशब्द का

विशेष आशय एवं संकेतार्थ होने के कारण, किसी शब्द-विशेष के स्थान पर दूसरा उपशब्द प्रयोग नहीं किया जा सकता| किसी एक वस्तु या इकाई की ओर संकेत करने हेतु कई पर्यायवाची उपशब्द हो सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक उपशब्द भिन्न बीज-ध्वनि से उत्पन्न होता है, और इस लिए प्रत्येक का भिन्न सन्दर्भ एवं आशय होता है| संस्कृत में व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ प्रायः, स्पष्ट-कथन हुआ करते हैं| विष्णु-सहस्रनाम में भगवान विष्णु के हज़ार नाम, पुराणों में वर्णित उनकी समस्त लीलाओं को अभिव्यक्त करते हैं|

संस्कृत एवं सन्दर्भ: अपनी विशिष्ट संरचना के कारण ही, विवेचन हेतु संस्कृत शास्त्रों को परिस्थिति-विशेष के सन्दर्भ पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है| विषय-वस्तु को सन्दर्भ से अलग या एक स्वाधीन अर्थ में नहीं देखा जा सकता है| ए.के.रामानुजन स्पष्ट करते हैं 'उन्नीसवीं सदी तक कोई भी भारतीय शास्त्र बिना सन्दर्भ, के उपलब्ध नहीं था...वे मूल पाठ को, चाहे वे कितने ही प्राचीन क्यूँ न हों, आज के पाठक के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं...' शब्दों की सही स्वर-शैली भी, उनके अर्थ-निर्धारण में महत्वपूर्ण होता है, जिन्हें परंपरागत वाचिक सम्प्रेषण में अत्यधिक महत्व दिया जाता था| इस प्रकार वेदों, उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों को, उनकी सम्पूर्ण मूल शुद्धता एवं प्रयोजन सहित, सुरक्षित रखना संभव हो सका| संस्कृत शास्त्रों का किसी अन्य भाषा में शब्दशः अनुवाद, जो संस्कृत पर आधारित न हो, बिलकुल बेतुका तथा असंगत सुनाइ पड़ेगा| हर शब्द एक अर्थ वाला न होकर, एक विस्तृत श्रेणी को धारण किये रहता है| उदाहरण के लिए, लिंग शब्द को प्रायः, उसे एक ऐसे अर्थ में, जिसे उसका सार माना जाता है, में सिकोड़ कर, गलत समझा जाता है| 'शिश्न' के रूप में लिंग का गलत अनुवाद, पश्चिमी व्यवहार में निर्देशात्मक रूप में प्रयोग किया जाने लगा है| फिर भी, लिंग शब्द के अर्थों के विस्तार में सम्मिलित हैं - लक्षण-निशान-स्थान-चिन्ह-बिल्ला एवं प्रतीक, और लिंग-भेद के अर्थ में भी| किसी उद्योग का प्रतीक उसका लिंग है, और एक इकाई के ही कई लिंग हो सकते हैं| शब्दों के अर्थ समय के अंतराल से बदलते भी हैं| इसलिए, किसी शब्द के एक अर्थ को अचल, स्थायी, और अलग-थलग मान्यताओं में सिकोड़ कर उस पर अड़े रहना, उसे न्यूनीकृत एवं विकृत करने के समान है| संस्कृत व्याकरण दोनों परम छोरों से परहेज़ करती है - एक ओर सुनिश्चित अर्थों का एक वर्ग तो दूसरी ओर बेतरतीब एवं स्वेच्छाचारी अर्थों की भरमार, जैसे कंप्यूटर की कोई भाषा होती है, जिससे किन्हीं निश्चित नियमों एवं व्याकरण की सहायता से, अनंत प्रकार के कार्यक्रम तय्यार होते हैं| इसके परिणामस्वरूप, किसी आख्यान के समस्त विवरणों को एक निश्चित 'अधिकारिक' संस्करण में ढालने का कोई दबाव नहीं होता (जैसा कि किसी विस्तारवादी परंपरा पर समान रूप से फैलने हेतु दबाव हुआ करता है)| इस प्रकार, प्रत्येक शास्त्र के कानूनी संस्करण को जो 'शुद्ध' माने जांय, को निर्मित करने की पश्चिमी परंपरा के सापेक्ष, संस्कृत शास्त्रों की परंपराएँ सर्वथा भिन्न रहीं हैं|

संज्ञानक सन्दर्भ के अंतर्गत है : सन्दर्भ को अनुभव करने वाले से, सन्दर्भ अलग नहीं है| कर्ता और कर्म का आपस में गुंथा हुआ होना व्यापक है| प्राचीन भारतीय ऋषियों को ज्ञात था कि वक्ता केवल निमित्त है, कर्ता नहीं| इस विचार के अनुसार ही संस्कृत की संरचना हुई है, और भाषा में इसके बोध से, अकर्ता वाली अवस्था की अनुभूति किसी को भी हो सकती है| अंग्रेजी की मानसिकता में 'घटनाक्रम' तथा 'अन्य' पर नियंत्रण करने की प्रवृति है, जिसके विपरीत, अकर्तामय प्रवृति के रूप में अभिव्यक्ति, संस्कृत में स्वाभाविक है तथा कर्तापन, श्रेय का दावा एवं नियंत्रण न करने हेतु अभिव्यक्ति का पसंदीदा तरीका भी; 'अहम हसामी' - अर्थात 'मैं हँसता हूँ' के स्थान पर संस्कृत में 'मया हास्यते' (हँसने की क्रिया मेरे द्वारा हो रही है) अटपटा नहीं माना जाता|

योग विद्या एवं बाह्य संसार : चेतना की उच्चावस्थाओं में, ऋषियों ने बाह्य पदार्थों की प्रकृति की छानबीन की| इस छानबीन के फलस्वरूप उन्होंने भौतिक जगत की जानकारी का व्यावहारिक वर्गीकरण किया| इसका उदाहरण है प्राचीन भारत में वनस्पतियों का विस्तार से वर्गीकरण| १७९५ में प्रकाशित, विलियम जोन्स के मूल्यांकन के अनुसार, यह उस मानक लैटिन-आधारित वर्गीकरण से कहीं अधिक प्रगतिशील था, जो पश्चिम के वनस्पति शास्त्रियों द्वारा प्रयोग किया जाता है| सब कुछ बिना आज के प्रयोगाश्रित विज्ञान को सरलता से उपलब्ध प्रयोगशालाओं द्वारा निरीक्षण एवं मापन की सुविधाओं की सहायता के भी, इस व्यवस्थित वर्गीकरण में, प्रत्येक जाति के पौधों का नामकरण, प्रत्येक जाति के तत्वों के अनुभूत-ज्ञान के आधार पर ही किया गया था|

संस्कृत, आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता : अठाहरवीं सदी के अंतिम वर्षों में जोन्स के समय से ही, पश्चिमी अकादमी में संस्कृत के विद्वानों ने भाषा-शास्त्र के विज्ञान के सृजन में महत्वपूर्ण योगदान किया| अकादमी में संस्कृत का गहन अध्ययन लंबे समय तक करने के उपरांत ही (तथा पश्चिम द्वारा अपनी खोज के दो सदियों बाद) भाषा-शास्त्र का विज्ञान, संस्कृत से स्वतंत्र होने लायक काफ़ी हद तक यूरोपीय बन सका था| उपनिवेशवादी भारतविध, युरोपियों द्वारा पाणिनी के व्याकरण के अध्ययन को, उपलब्धि के रूप में एक महत्वपूर्ण खोज मानने लगे थे| यूरोप में संस्कृत के विद्वान ही आधुनिक भाषा-शास्त्र को एक अकादमीय विधा के रूप में प्रारंभिक रूप से विकसित करने वाले बने थे| पश्चिम के 'संरचनावाद के जनक', फर्डिनैंड द सौस्युरे (१८५७-१९१३), जिन्होने अपना पूरा अकादमीय जीवन पैरिस में, पाणिनी के संस्कृत व्याकरण के पठन-पठान में बिताया, की मृत्यु के बाद उनके विद्यार्थियों ने उनकी कक्षा की टिप्पणियों का मरणोपरांत प्रकाशन किया था, लेकिन उनमें से संस्कृत, पाणिनी एवं भारतीय शास्त्रों के सभी निशानियों एवं सन्दर्भों को हटा दिया, और उनके स्थान पर सामान्य एवं सार्वभौमिक सिद्धांतों को रख दिया, जिन्हें आधुनिक युरोपीय भाषाओँ पर लागू किया जा सकता था! उन टिप्पणियों में जो दार्शनिक सिद्धांत थे, वे 'संरचनावाद' के नाम से जाने गए, जिस के आधार पर बाद में यूरोपीय कला, समाज-शास्त्र, इतिहास, दर्शन एवं मनोविज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए| 'संरचनावाद' 'उत्तर-संरचनावाद' का पूर्ववर्ती दर्शन था, जो उत्तर-आधुनिक विचार का तात्विक दर्शन है| अमरीकी कवि टी.एस. इलियट (१८८८-१९६५) उन चंद पश्चिमियों में से थे, जो संस्कृत की सामर्थ्य तथा भारतीय धर्म से उसके सूक्ष्म सम्बन्ध को भली प्रकार समझते थे| अपनी पुस्तक 'टी.एस. इलियट एवं भारतीय परंपराएँ' में क्लियो कैर्न्स बतातीं हैं, कि उपनिषदों तथा वैदिक ग्रंथों के अध्ययन से ही कवि को इस तथ्य की जानकारी मिली कि भाषा के केन्द्र में श्वास, ध्वनि एवं निस्तब्धता निवास करते हैं| भले ही उन्होंने 'मन्त्र-शक्ति' शब्दों का प्रयोग नहीं किया हो, लेकिन वे उन्हीं की ओर इशारा करते प्रतीत होते हैं, जब उन्होंने यह लिखा कि 'भाषा के शब्दांश एवं लय, विचार तथा भावों के चेतन स्तर से बहुत गहराई तक प्रवेश करते हैं और प्रत्येक शब्द को उर्जावान बना देते हैं; ऐसी अत्यधिक गहराई तक जो इतनी प्राचीन हो, जिसमें डूब जाते हैं श्रोत तक, तथा जिसे सतह पर भुला भी दिया गया हो, फिर भी उस श्रोत से कुछ लेकर और वापस सतह पर लौट कर, आदि और अंत की खोज करते हुए, भाषा इस प्रकार अपना काम करती है| भाषा निश्चित रूप से भले ही, स्पष्टतया शब्दों के अर्थों के माध्यम से अपना कार्य करती है, या फिर समझने में, सामान्य अर्थों में उसके बिना भी नहीं...'|

संस्कृति के रूप में भारतीय धार्मिक सभ्यता : धार्मिक सभ्यता के स्वरुप को संस्कृत ने पूर्णतया निर्धारित किया है एवं यह उसके एकीकरण का आधार है| संस्कृत का अर्थ है 'विस्तृत', 'परिष्कृत', 'सभ्य' जो

अभिव्यक्ति की पूर्णता का बोध कराता है और जिसने एक विशिष्ट प्रकार की सांस्कृतिक व्यवस्था को प्रभावित किया, जो इस संसार को अनुभव करने की एक विधि है| संस्कृति एक विद्या है, जो मानवीय विज्ञान, कला, नृत्य, वास्तुशास्त्र, सुगम-संगीत, शास्त्रीय-संगीत, रंग-शाला, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य, तीर्थयात्रा, कर्म-कांड एवं धार्मिक आख्यानों का भंडार है, जो सभी आम-भारतीय विशिष्टताओं के मूर्त रूप हैं तथा, जिसको एक अन्य नाम सनातन-धर्म से पुकारा जाता है, जो एशियाई संस्कृति के रूप में, दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया एवं पूर्वी एशिया के बड़े क्षेत्र में फैली हुई एक फलती-फूलती व्यापक संस्कृति एवं सभ्यता रही है| पाणिनीय व्याकरण इस भंडार की अद्भुत उपलब्धियों में है, जो स्पष्टता, लचीलेपन एवं प्रखरता-युक्त एक निरूपक भाषा है, जिसकी ओर प्रेरणा हेतु कंप्यूटर विज्ञान के कुछ अग्रणी आकर्षित हुए हैं| संस्कृत के वैज्ञानिक एवं लौकिक पहलुओं ने ही, भारतीय विद्वानों को वैज्ञानिक चर्चा हेतु बघदाद आने के लिए, अरबों को प्रेरित किया था तथा अपने शास्त्रों का अरबी भाषा में अनुवाद करने हेतु उनसे सहायता का भी उन्होंने अनुरोध किया था|

बृहद एवं स्थानीय परम्पराओं को संस्कृत जोड़ती है - भारत पर फौजी तथा राजनैतिक आधिपत्य के बाद, पहले फारसी और फिर अंग्रेजी द्वारा दबाए जाने के पूर्वकाल में, संस्कृत कई भूभागों में प्रभावशाली रूप से प्रचलित एक जीवंत भाषा थी| इस प्रकार वह आध्यात्मिक, कलात्मक, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक बोलचाल की भाषा के रूप में एशिया के बड़े भूभाग में स्थानीय भाषाएँ बोलने वालों के बीच उपयोगी संपर्क भाषा के रूप में प्रचलित थी, जो स्थान आज अंग्रेजी का है| इसके अतिरिक्त, स्थानीय भाषाओं के साथ, आदान-प्रदान की दोहरी रीति से संस्कृत जुड़ी हुई थी| संस्कृत की निरूपक संरचना एवं उसकी परिष्कृत श्रेष्ठ संस्कृति, ऊपर से नीचे की ओर स्थानीय भाषाओँ तथा लोक संस्कृतियों में संचारित होती रहती थी| इसके साथ ही साथ, संस्कृत की लचीली, खुली संरचना में नीचे से ऊपर की ओर स्थानीय संस्कृति एवं भाषाओं का समावेश भी होता रहता था, जो ऐसी विधि से दो संस्कृतियों, संस्कृत की 'बृहद' एवं 'स्थानीय' की 'लघु', के बीच आदान-प्रदान से फलती-फूलती रहती थी और जो विकास-रत संस्कृत भाषा के अंदर, समयांतर में सूत्र रूप में, अभिलिखित होकर स्थानीय संस्कृति के साथ एक साझा संस्कृति के अंश का रूप ले लेती थी| दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में पाई जाने वाली इसी प्रक्रिया को अनेकता में एकता के रूप में समझा जा सकता है| संस्कृत के प्राचीन ज्ञान, 'शास्त्रीय-परंपरा' व स्थानीय प्रचलित एवं अनौपचारिक वाचिक लोक-परम्परा के बीच एक उदार-सहजीविता बनी हुई रहती थी| संभ्रांत वर्ग के इतर भी संस्कृति के प्रसार हेतु, पुराण कई सदियों के दौरान रचे गए थे, जो प्राचीन काल में दन्तकथा के अनेक रूपों में तथा उपाख्यानों के माध्यम से आध्यात्मिक संदेशों को, प्रचलित संस्कृति में समाविष्ट होने हेतु तथा सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा देने एवं इस प्रकार, बड़ी संख्या में जनजातीय लोगों के ब्राह्मण बनने के साधन भी बने थे| विभिन्न स्थानीय व्यावसायिक एवं शिल्पी-समुदायों के इष्ट देवताओं को इस पूरी प्रक्रिया में मान्यता मिलती थी| बड़ी संख्या में तीर्थों एवं उनकी यात्राओं को पुराणों ने बढ़ावा दिया और धीरे-धीरे, तीर्थों ने वैदिक यज्ञों का स्थान ले लिया| दूर-दराज़ बसे समुदायों के लिए यह गौरव एवं अति महत्व का विषय बनता था, जब बहुत दूर के तीर्थयात्री उनके यहाँ पहुँचते, और इन तीर्थयात्राओं के माध्यम से सुदूरवर्ती क्षेत्रों में, मंदिर-जनजातीय संबंधों को भारत भर में इस प्रकार बढ़ावा मिलता था| विविध फैले हुए अल्पसंख्यक समुदायों के बीच परस्पर शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर ही हिंदू समाज में बहुलतावाद प्रचलित है; वह समाज में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से किसी हिंसात्मक संघर्ष के फलस्वरूप पैदा नहीं हुई, जो आज के पश्चिमी विद्वानों के यह दिखाने के, उस प्रायोजित प्रयास के बिलकुल विपरीत है, जिसके अनुसार भारत की शास्त्रीय-धार्मिक-परंपराएँ यहाँ के

'वास्तविक' मूल-निवासियों के प्रति अभिभावी एवं दमनकारी रहीं हैं| लेकिन भारत में, तथाकथित जनजातीय लोग (ग्रामीण जीवन एवं जानकारी की अनौपचारिक वाचिक व्यवस्थाएँ जिनकी विशेषता है) सदा से ही भारत की औपचारिक धर्म व्यवस्था के अंतर्गत शांतिपूर्वक, सह-अस्तित्व में रहे हैं| प्रायः भारत भर में, उदाहरण के लिए, कृष्ण-कथाएँ अनगिनत स्थानीय उप-संस्कृतियों में रूपांतरित होकर घुलमिल गईं हैं एवं स्थानीय रूप से लगभग हर गांव तथा कहीं कहीं तो हर जाती में, देवी उपासना विविध रूपों में प्रचलित है, जिसके कारण क्षेत्रीय एवं लोक परम्पराओं की चौंकाने वाली विविधता को हिंदू धर्म के कई उत्सवों एवं कर्म-कांडों पर आश्रित होकर, स्थानीय लोगों द्वारा भारत के विभिन्न भागों में अपनाया हुआ देखा जा सकता है|

भारतीय संस्कृति एवं अखिल - एशियाई सभ्यताएँ : अखिल-एशियाई सन्दर्भ में, इस प्रकार स्वाधीन सांस्कृतिक परम्पराओं में आदान-प्रदान, परस्पर प्रभावोत्पदन एवं रूपांतरण, जो इन संस्कृतियों के बीच समागम होने पर परस्पर खोजबीन, व्यापार, ज्ञानार्जन की व्यवस्थों के प्रतिरोपण आदि के दौरान होते थे, वे स्थानीय सन्दर्भ में नए ज्ञान की रूपरेखा को बदलने एवं उन्हें नया रूप देने हेतु, कोई भी सोची-समझी या व्यवस्थित औपनिवेशिक किसी कार्य-योजना से अधिकांशतः, मुक्त थे| इसी लिए रामायण को कई एशियाई संस्कृतियों एवं भाषाओँ में रूपांतरित एवं आत्मसात कर लिया गया है| कम से कम ईस्वी सदी के आरंभ से लेकर लगभग तेरहवीं सदी तक, गांधार (अफ्गानिस्तान एवं पाकिस्तान के कुछ हिस्से) स्थित पुरुषपुर (पेशावर) से सुदूर पूरब में अन्नान स्थित पांडुरंग (दक्षिण वियतनाम) तथा केन्द्रीय जावा स्थित प्रम्बनम में, संस्कृत राजकीय तथा प्रशासनिक हलकों में, प्रमुख भाषाई एवं सांस्कृतिक माध्यम थी एवं एशिया के बड़े भूभाग में उसका प्रभाव एक हज़ार वर्षों से अधिक रहा| यह संस्कृति किसी साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा, न तो थोपी गई थी और ना ही उसे केन्द्रीय रूप से संगठित एवं संचालित, किसी चर्च जैसी संस्था द्वारा कायम रक्खा गया था| विश्व के यूरोपीय-करण के सदियों पहले, मध्य एशिया से अफ्गानिस्तान, भारत, श्रीलंका, थाईलैंड, कम्बोडिया, वियतनाम से लेकर इंडोनीशिया तक का वृत्तखण्ड – एक परिष्कृत अखिल-एशियाई संस्कृति का संगम-समागम स्थल था| ए.एल. बाशम ने अपनी पुस्तक 'भारत का संस्कृतिक इतिहास' में स्पष्ट किया है कि 'ईस्वी की पांचवी सदी तक, ऐसी राज्य-व्यवस्था जो परंपरागत भारतीय राजनैतिक सिद्धांतों के आधार पर सञ्चालित थी एवं बौद्ध अथवा हिंदू धर्मों का अनुसरण करती थी, वह बर्मा के कई भागों में, थाईलैंड, हिंद-चीन, मलेशिया, तथा इन्डोनेशिया में, स्थापित हो चुकी थी'| इससे भी वर्षों पूर्व, ब्रिटिश इतिहासकार ए.जे. टौयन्बी ने कहा था: 'सभ्यताओं की एक श्रंखला जो सुदूर उत्तर-पूर्व में जापान से दूरवर्ती उत्तर-पश्चिम में आयरलैंड तक फैली हुई थी, उसकी केन्द्रीय कड़ी भारत था| इन दो सिरों के बीच में यह श्रंखला दक्षिण की ओर एक बंदनवार की भांति, भूमध्यरेखा के नीचे इंडोनीशिया तक पहुँचती थी'|

जो भी हो, हिंसात्मक अभियानों के फलस्वरूप रोमन सभ्यता जिस प्रकार फैली थी और जिसके कारण लैटिन, सदियों तक यूरोपीयन भाषा बनी रही, उससे बिलकुल भिन्न तरीके से एशिया का संस्कृतीकरण, बिना आधिपत्य, दमन, या स्थानीय पहचानों को मिटाए, शांतिपूर्वक तरीके से हुआ था, एवं जैसा वर्णन अरुण भट्टाचार्जी की पुस्तक 'बृहत्तर भारत' में मिलता है '...सांस्कृतिक विस्तार कभी भी औपनिवेशिक दमन एवं व्यावसायिक सक्रियता के रूप में नहीं समझा गया था, आर्थिक शोषण के रूप में तो कतई नहीं| चीन पर भारत का प्रभाव अपने चरम सीमा पर ईस्वी सातवीं सदी में उस वक्त पहुंचा, जब किसी अन्य समय से कहीं अधिक संख्या में चीनी भिक्षुक एवं राजकीय प्रतिनिधि मंडल भारत में स्थित नालंदा विश्व-विद्यालय में अध्ययन हेतु आये, जहाँ एशिया भर के बौद्ध विद्वान न केवल बुद्ध धर्म का, बल्कि वैदिक दर्शन, गणित,

खगोल-शास्त्र एवं चिकित्सा-शास्त्र का भी अध्ययन किया करते थे| सिद्धांतों, साधनाओं एवं संस्थाओं के विषय में बौद्ध और हिंदू धर्म में, सामान्य भिन्नताएँ बहुत धुंधली थी और इन प्रेरणाओं को पाने में प्रयासरत विदेशी संस्कृतियां, भिन्नताओं की ओ़र अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया करतीं थीं| उदाहरण के लिए, यह ज्ञातव्य हो, कि भारत से चीन गए बौद्ध भिक्षुओं का सम्मान उनके, हिंदू धर्म के ज्ञान के लिए भी होता था और उतना ही सम्मान होता था उनके भिक्षु के रूप में उनकी साधनाओं एवं व्रतों का| सामान्य रूप से, पश्चिमी इतिहासकार एवं उनका अनुकरण करने वाले भारत के विद्वान, इस बड़े पैमाने पर संस्कृति के भारत से निर्यात को, बुद्ध धर्म के प्रसार और प्रचार के रूप में ही संदर्भित करते हैं, जिसके द्वारा एक प्रकार से, जान-बूझकर भारतीय सनातन धार्मिक संस्कृति को फीका दिखा दिया जाता है|

ईसाई 'संस्कृतीकरण' एक राजनैतिक-मजहबी योजना का हिस्सा थी, जो विश्व में कहीं अन्यत्र स्थित केन्द्र से थोपी जाती थी| इस दूरवर्ती ईसाई गठजोड़ के पीछे प्रायः, आर्थिक एवं राजनैतिक निहित स्वार्थ हुआ करते थे, जो स्थानीय निवासियों के हितों से भिन्न होते थे, तथा उनके आधिपत्य का उद्देश्य, उपनिवेशक के हितों के अनुरूप शोषण करना होता था| स्पष्टतः, यूरोपीय शासन के अंतर्गत, स्थानीय निवासी जो ईसाई बन जाते थे, उन्हें उनके मुकाबले अच्छी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सुविधाएँ दीं जातीं थीं, जो उन्हीं समुदायों के धर्मान्तरित न होने वाले निवासियों को सामान्य रूप से उपलब्ध होतीं थीं और यह अधिभावी प्रवृत्ति, जो बीते समय की याद के रूप में आज आसानी से पहचानी जा सकती है, आज भी धर्मान्तरण की परियोजना के साथ-साथ पश्चिमी सार्वभौमिकता के माध्यम से चलाई जाती है, ताकि विश्व भर के लोगों को एक वैश्विक इतिहास के अंतर्गत समेट लिया जाय| ईसाइयत और उसके बाद इस्लाम का विस्तार, अधिकांश रूप से जोर-जबरदस्ती और आक्रामक तरीकों से उपलब्ध किया गया था तथा आज तक भी, बहुराष्ट्रीय कंपनियों की कार्यविधि की भांति, विवध ईसाई संगठन भारत (अन्य राष्ट्रों में भी) के हर जनपद हेतु, धर्मान्तरण के लक्ष्य निर्धारित करते हैं, जिसके साथ-साथ, वाजिब अनुदान, प्रति-व्यक्ति धर्मान्तरण के व्यय का खर्च भी निर्धारित होता है|

अरूपान्तरणीय श्रेणियाँ : उपरोक्त चर्चा यह स्पष्ट प्रदर्शित करती है कि संस्कृत के कई शब्द, सीधे से क्यूँ अनूदित नहीं हो सकते हैं| मुख्य संस्कृत शब्दों की यह अरूपान्तरणीय प्रकृति, इस प्रकार से यह भी प्रमाणित करती है कि कई भारतीय परंपराएँ पचाई नहीं जा सकतीं हैं| संस्कृत शब्दावलियों को सुरक्षित रख कर, इस प्रकार उनके अर्थों के पूरे विस्तार को बचा कर रखना, उपनिवेशीकरण का प्रतिरोध करने एवं भारतीय धार्मिक ज्ञान को बचाए रखने का एक सुगम साधन बन जाता है| यह सही है कि मानवीय इतिहास में ज्ञान के विकास एवं उसके विस्तार में, विधिवत अनुवादों का बहुत बड़ा मौलिक योगदान रहा है| जो भी हो, ऐसे मामलों में, जिनमें वही अनुभव दूसरी संस्कृति में भी जाना जाता हो और उस संस्कृति में उस अनुभव के लिए कोई शब्द भी होता हो, तो भी वह शब्द केवल 'एक चलन का द्योतक' भर हो सकता है, अपने कम्पन-मय प्रभावों में वह मन्त्र के अनुरूप नहीं ही हो सकता; बौद्धिक स्तर से गहराई पर चेतना के स्तरों पर भी जो प्रभाव संस्कृत के मन्त्र पैदा कर सकते हैं, ऐसा शब्द जो 'एक चलन का द्योतक' भर हो, कतई नहीं कर सकता| अंतर्मजहबी संवादों में, समरूपता की खोज में प्रायः ईशु के लिए 'ऋषि' या 'गुरु'; वेदों या गीता के लिए 'हिंदू बाइबिल'; तोराह की किताब के स्थान पर 'यहूदी वेद'; एवं हिंदू पूजाओं को 'वरशिप' के विविध रूप बता कर, हमेशा भ्रम फ़ैलाने के साथ-साथ हिंदू धर्म को हानि पहुंचाई जाती है| उदाहरण के लिए, सूर्यदेव की उपासना 'सन गौड वरशिप' नहीं है| तंत्र का 'अनर्थ' कर के उसे काम-क्रिया

बताया गया एवं 'स्त्रीधन' को गलती से दहेज मान लिया गया है|

ब्रह्म एवं इश्वर, 'गौड' के समानार्थी नहीं हैं : ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति, बीज अक्षर 'बृह' से हुई, जिसका अर्थ है 'विस्तृत होना'| उन्मुक्त, प्रसरणशील शाश्वत यथार्थ, जो सब का सृजन करता है, सब में निवास करता है - एवं सब से परे भी है, वह ब्रह्म है| जिस 'गौड' को मोज़िज़ ने साईनाइ शिखर पर देखा था एवं जिस 'गौड' से उसने पत्थर की पट्टी प्राप्त की थी, वह दूर दूर तक भी ब्रह्म के समान नहीं है| यह यहूदी-ईसाई 'गौड' सृष्टि का रचयिता है, अपनी बनाई सृष्टि से बिलकुल भिन्न एवं पृथक| इसके अलावा, यह 'गौड' सत्तावादी है, उन्हें दंड देता है जो नियमों का पालन नहीं करते, और इतिहास में विशिष्ट समयों एवं स्थानों पर हस्तक्षेप भी किया करता है| दूसरी ओ़र, ब्रह्म, स्वयं ब्रह्माण्ड है एवं बिना हमारे जाने हुए, हम सब के अन्दर, आत्मा के रूप में निवास करता है, और अंततः हमें ब्रह्म-पद प्रदान करता है| इसी प्रकार, ईश्वर शब्द यहूदी-ईसाई सोच के अनुरूप 'गौड' नहीं है|

शिव, विनाशक का समानार्थी नहीं है: शिव जो नटराज एवं योगिराज हैं, प्रबोध एवं गूढ-ज्ञान के प्रदाता हैं, और जो मानवता व जगत को विविध प्रकार से चेतना के क्रमिक विकास की ओ़र ले जाते हैं, उनके विषय में, परिवर्तक के रूप में वर्णन करना अधिक सार्थक होगा, बजाय विखंडन के माध्यम से, पश्चिमी विद्वानों द्वारा गलती से विनाशक के रूप में वर्णन किया जाना|

आत्मा, 'सोल' या 'स्पिरिट' का समानार्थी नहीं है: ब्रह्माण्ड सम्बन्धी ज्ञान में भारत तथा पश्चिम की भिन्नता, 'आत्मा या स्वयं की प्रकृति' के विषय में इन दोनों के दृष्टिकोणों की भिन्नता में प्रकट होती है, जो भारतीय दर्शन में सत्-चित-आनंद है, जिसे अध्यात्म-विद्या के अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है जबकि, अहम की प्रकृति, पश्चिमी मान्यता में पापमय है, जिस पाप की अवस्था से केवल पैगम्बरों द्वारा कतिपय इतिहास-केंद्रित रहस्योद्घाटनों के समुच्चय पर विश्वास करने से ही मुक्ति मिल सकती है| हिंदू धर्म में, हर किसी के यथार्थ अहम को आत्मा नाम से जाना जाता है, जो ज्ञानातीत परम ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है, जो इस प्रकार, 'सोल' या 'स्पिरिट' की यहूदी-ईसाई संकल्पना से भिन्न है| आत्मा की धार्मिक संकल्पना पुनर्जन्म एवं कर्मफल की संकल्पनाओं से जुड़ी हुई है, जो कर्मफल हर जीव के पूर्व-जन्म की वासनाओं का पूरा लेखा-जोखा है और जो मृत्यु के समय में अगले जन्म को प्रभावित करने हेतु स्थानान्तरित हो जाता है| कुछ प्रारंभिक ईसाईयों (मुख्यतः औरिजैन) ने पुनर्जन्म पर बल दिया भी था, लेकिन ऐसा करने पर वे पूर्व विधान से असहमति दिखा रहे थे| जैसे जैसे ईसाई धर्मशास्त्र विकसित होता चला गया, इन विचारों को ईसाई मुख्यधारा द्वारा त्याग दिया गया| पुनर्जन्म एवं कर्मफल से जुड़ी हुई है, अनंत काल की संकल्पना, जिसका न आदि है और न अंत ही है| इसके विपरीत, यहूदी एवं ईसाई मजहब, सीमित काल पर आधारित हैं, जिसका आदि भी है और अंत भी है| त्रिदेवों की संकल्पना में 'पवित्र आत्मा' के रूप में केवल एक ही शाश्वत 'स्पिरिट' 'गौड' में है - और ईसा की 'आत्मा' 'गौड' के साथ ही साथ, शाश्वत है| लेकिन हर व्यक्ति की 'सोल' का अस्तित्व, सीमित काल के ही लिए है, जो बिना आदि और अंत के आत्मा से बिलकुल भिन्न है| आत्मा जो तत्वतः ब्रह्म जैसी ही है, और किसी अन्य चेतना से अभिन्न है और वही पदार्थ जगत का भी परम तत्व है; वह 'सोल' से तो सर्वथा भिन्न है जो न केवल 'गौड' से पृथक है, बल्कि पदार्थमय जगत से भी अलग है| पुनर्जन्म की संकल्पना से ही भूतकाल के विवरण तथा भावी उत्तराधिकारियों के प्रति लगाव कम करना आसान हो जाता है, इस लिए पश्चिमी परम्पराओं, जिनके अनुसार हर किसी को जीने के लिए एक ही जन्म

मिलता है, की अपेक्षा भारतीय धर्म को मानने वालों के लिए अपनी देह के प्रति आसक्ति को कम करना संभव हो जाता है| ईसाई 'सोल' से भिन्न, मानवेतर योनियों में भी आत्मा अभिव्यक्त हो सकती है, जैसे पशु, पौधों एवं सामान्य जड़ प्रकृति में, जिसके कारण सामान्यतः, जीवों तथा पर्यावरण के प्रति आम भारतीयों के ह्रदय में आदर स्वाभाविक होता है, न कि ऐसा धर्म शास्त्र से इतर किसी अन्य सामाजिक अथवा राजनैतिक सोच या आग्रह के कारण|

वेद, बाइबिल या ईसा-चरित के समानार्थी नहीं हैं: 'बाइबिल' शब्द जिसके माध्यम से यहूदी एवं ईसाई परम्पराओं के एक विशिष्ट बंद, इतिहास-केन्द्रिक कानून-शास्त्र को संदर्भित किया जाता है, उसे अन्धाधुन्ध तरीके से अन्य परम्पराओं के पवित्र शास्त्रों को इंगित करने हेतु, पश्चिम द्वारा इस्तेमाल किया जाता है| यहूदी बाइबिल का मूल शास्त्र तोराह है, जिसमें सम्मिलित हैं मोज़िज़ की (Pentateuch) पांच किताबें, तथा कई भविष्यसूचक भाष्य, गाने, भजन, ऐतिहासिक आख्यान एवं ज्ञान विषयक लेख| ईसाईयों के लिए पवित्र शास्त्र हैं, हिब्रू बाइबिल (जिसे पूर्व विधान – Old Testament कहते हैं) एवं नव विधान (New Testament), जिसमें चार सुवार्ताएँ (Gospels), ईसा के चार मुख्य शिष्यों के कृत्य, कई समुदायों या व्यक्तियों या चर्चों को लिखे गए पत्र, एवं रहस्योद्घाटनों की किताबें हैं| मुसलमानों के लिए पवित्र शास्त्र कुर्रान है, जिसमें बाइबिल में वर्णित रहस्योद्घाटनों को सही एवं दोषहीन रूप दे दिया गया है, तथा यहूदी एवं ईसाई बाइबिल का अधिक्रमण करने वाले नए रहस्योद्घाटनों को उसमें पिरो दिया गया है|

भारतीय परम्पराओं में लिखित शास्त्रों की स्थिति के सापेक्ष पश्चिमी पवित्र शास्त्रों की स्थिति, जिनका विशेष कानूनी स्थान होता है और जो अधिकारिक रूप लिए होते हैं, तथा कुछ परम्पराओं में जो अंतिम भी माने जाते हैं, बिलकुल भिन्न है| वैदिक दृष्टि से देखने पर बाइबिल श्रुति है, अर्थात प्रत्यक्ष प्रबोध की अनुभूति नहीं है, बल्कि अधिकांशतः स्मृति है (घटनाक्रमों का एक लिखित विवरण, जिनके सन्दर्भ बदलते रहते हैं और जिन्हें नियमों में बांधा नहीं जा सकता), जो पूरी तरह से अन्य के द्वारा एक विवरण है और ईसा के स्वयं के रहस्योद्घाटनों अथवा अनुभवों का विवरण नहीं है| इसके अतिरिक्त, नव विधान किसी पवित्र भाषा में नहीं लिखा गया बल्कि, एक प्रकार की प्रचलित लौकिक यूनानी भाषा में है जो उन दिनों भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द क्षेत्र में सामान्यतः बोली जाती थी| यद्यपि, श्रुति (आदि कालीन ध्वनियों के समान) तकनीकी रूप से अपौरुषेय हैं, फिर भी दो सन्दर्भ तो हमेशा होते ही हैं, एक, जिस ऋषि ने उन्हें (ऋचाओं को) खोजा था था दूसरा, पाठक जो उनको समझता है| प्रोटेस्टंट मत को मानने वाले ईसाईयों ने, तानाशाह चर्च के स्थान पर एक तानाशाह किताब को रख दिया, जो सिद्धांततः संस्थागत चर्च एवं उसके पादरियों के नियंत्रण से मुक्ति चाहते थे| चर्च की अति संगठित और संस्थापित संरचना का निहितार्थ यह है कि, मत-शास्त्रों के विषय में उसके द्वारा जारी किये गए फतवों पर एक औपचारिक केन्द्रीय नियंत्रण रहता है, तथा मूल पवित्र शास्त्र को चुनौती देना मत-विरोधी या ईश-निंदा के समान माना जाता है| इसके विपरीत, चूँकि स्मृतियाँ कई श्रोतों से उपजी हैं और उनपर किसी का भी केन्द्रीय नियंत्रण नहीं है, इस के कारण हिंदू धर्म में बिना हिंसात्मक युद्धों अथवा आतंरिक टूट-फूट के, परिवर्तन की संभावना सदा बनी रहती है|

ईसाई और हिंदू परम्पराओं में पवित्र शास्त्रों की समझ की तुलना को चित्रित करने हेतु कई बिंदुओं को एक तालिका में उदाहरण सहित प्रस्तुत किया गया है जो **"विभिन्नता "** के पृष्ठ २९० पर एवं (Being Different) के पृष्ठ २५९ पर उपलब्ध है|

धर्म, रिलिजन या कानून का समानार्थी नहीं है: संस्कृत शब्द 'धर्म' की उत्पत्ति बीज अक्षर 'ध्री' से हुई है, जिसका अर्थ है 'जो धारण करता है' या 'जिसके बिना कुछ ठहर नहीं सकता' या 'जो ब्रह्माण्ड की स्थिरता एवं लय को बनाये रखता है', और सन्दर्भ-विशेष के अनुसार जिस 'धर्म' शब्द के विविध अर्थ होते हैं, पश्चिमी शब्दकोष में उसका कोई समानार्थी है ही नहीं| इसके सापेक्ष एक विशुद्ध एवं ईमानदार मजहब का आदर्श है जो छै ('विभिन्नता' के पृष्ठ २९१ एवं Being Different के पृष्ठ २६० में इंगित) मानदंडों का पालन करता है| ये सभी मानदंड निर्भर करते हैं, उस एक प्राधिकार की श्रंखला पर जो दुनियां में ईश्वर के ऐतिहासिक हस्तक्षेप से अपनी प्रमाणिकता प्राप्त करता है| अन्य संप्रदायों के अध्ययन की व्यवस्था हेतु संवाद पर ईसाइयत के नियंत्रण के फलस्वरूप, उसने पहले से ही बातचीत के सब वर्गों एवं शीर्षकों का निर्धारण किया, जिसके कारण अन्य धर्मों की विवेचना में गंभीर गलतियाँ हुई हैं| चर्च द्वारा निर्धारित एवं लागू किये जाने वाले कानून की शुरुआत, बाद के रोमन सम्राटों के समय में हुई| यहूदी कानून का अंतिम श्रोत है, इज़राइल का ईश्वर| सभी पश्चिमी मजहब मानते हैं कि ईश्वर के कानूनों का पालन, वैसे ही होना चाहिए जैसे कि किसी शासक के आदेश का| इसलिए, यह अति आवश्यक है कि 'मिथ्या देवताओं' को धिक्कारा और हराया जाय, ताकि वे गलत कानून जारी न कर दें, जो 'सही कानून' को नकार भी सकते हैं|

इसके विपरीत, ऐसा कोई दस्तावेज़ नहीं है जिससे पता चले कि भारत के किसी शासक ने किसी क्षेत्र-विशेष के लिए या किसी खास समय पर, विभिन्न धार्मिक स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्रों को लागू करने की कोई मुनादी की हो, न ही कि ऐसा कोई दावा किया हो कि ईश्वर ने ऐसे कानूनों का इल्हाम घोषित किया है, न ही कि इन कानूनों को कोई शासक लागू करे| राजाओं में से किसी ने भी प्रसिद्ध स्मृतियों के किसी भी संकलनकर्ता ऋषि की नियुक्ति नहीं की| याज्ञवल्क्य स्मृति की शुरुआत, एक तपस्वी के आश्रम में हुई| मनुस्मृति में उल्लिखित उसका आरंभ, मनु की पर्ण कुटी में हुआ, जिन्होंने समाधि की अवस्था में उनसे पूछे गए प्रश्नों का उत्तर दिया| ऋषियों को मनु उपदेश देते हैं कि हर युग का अपना विशिष्ट धर्म होता है (मनुस्मृति, १.८२). इसलिए, धर्म को मजहब मानना एक भयंकर भूल थी|

जाति तथा वर्ण, कास्ट के समानार्थी नहीं हैं: जाति शब्द (प्रायः 'कास्ट' के रूप में गलत अनूदित) को एक समुच्चय के रूप में समझना उचित होगा, जैसा गणित अथवा साहित्य में एक विधा या शैली के रूप में| इस शब्द का उपयोग मानवेतर इकाइयों के किये भी होता है, उदाहरण के लिए, पेड़ों की जाति, एक प्रकार के अंकों की जाति, क्रियाओं की जाति, आदि| इसी प्रकार, 'वर्ण' शब्द का अर्थ है रंग, और व्यक्तियों के पूर्व कर्मों एवं विशिष्ट गुणों या प्रवृत्तियों के आधार पर, लोगों की विविध विशेषताओं एवं गुणों को भी इस शब्द से संदर्भित किया गया|

ओम, आमीन - अल्लाह आदि का समानार्थी नहीं है: अंग्रेजी में संस्कृत शब्दों का रूपांतरण न हो सकने का प्रश्न कहीं भी इतने अधिक महत्व का नहीं है, जितना 'ओम' की ध्वनि एवं उसके प्रतीक होने के अनुवाद को ले कर है| एक सामान्य लेकिन गलत परिपाटी, विशेषकर 'ईसाई योग' के हलकों में प्रचलित हुई है, कि 'ओम' के स्थान पर आमीन अथवा ईसा का प्रयोग किया जाने लगा है| मन्त्र रूप में ओम, कंपन रूप में बिना संस्कार-ग्रस्त मानस की मध्यस्थता के, इश्वर की ही अनुभूति है, जिसके स्थान पर समानार्थी शब्दों का उपयोग नहीं हो सकता है| पतंजलि ने ओम को ईश्वर का 'वाचक' कहा| मानस-पटल से नाम-रूप एवं उनके पृथक सन्दर्भों को विलीन करने हेतु ही, ओमकार का जप किया जाता है|

दुःख, पीड़ा (सफरिंग) का समानार्थी नहीं है: भारतीय धर्म परंपराएँ सामान्य रूप से यह मानतीं हैं कि मानवीय समस्याओं के मूल में, अधूरा अथवा गलत संज्ञान एवं समझ है, जो हमारे द्वारा अपने ही पूर्व-संस्कारों के कारण भौतिक वस्तुओं, विचारों, संकल्पनाओं एवं भावनाओं के रूप में जगत को पृथक-पृथक अवयवों से बना हुआ देखे जाने पर, उन्हें सच मान लेने से उत्पन्न होता है| जगत को द्वैत-पूर्ण मानना ही बौद्धों के अनुसार, दुःख (संतुष्टि का आभाव, शोक, अथवा व्यग्रता) का कारण है| पश्चिमी दार्शनिक, सामान्य व्यवहार में 'स्वयं के स्वायत्त-बोध' को 'तत्व' या 'सार' मानते हैं, लेकिन भारतीय धार्मिक दृष्टि से, ऐसे तत्वों अथवा सारों में विश्वास ही घोर अज्ञान है| हिंदू अद्वैतवादी तथा बौद्ध, दोनों ही दृश्य 'संसार' का विखंडन करते हैं, लेकिन परिणाम में ये, पश्चिमी उत्तर-आधुनिकों के विखंडन से बिलकुल भिन्न हैं| जो भी हो, हिंदू एवं बौद्ध, दोनों धर्मों की दृष्टियों के अनुसार, कोई आदि नहीं है; यथार्थ अद्वैत है, और पृथक तत्व अस्थाई एवं सापेक्ष हैं| हिंदू एवं बौद्ध दोनों धर्मों में, अहंकार जिसे पश्चिमी दार्शनिक 'तत्व' या 'स्वयं का स्वायत्त-बोध' मानते हैं, से मुक्ति मिलने पर ही ब्रह्म से एक होने का, या निर्वाण की अवस्था का, आनंद प्राप्त होता है| जब उत्तर-आधुनिकों द्वारा सामूहिक पहचानों का विखंडन समाप्त होता है, तब कुछ शेष नहीं रह जाता, जो समाज में अलगाव और एक प्रकार की निराशा की स्थिति को जन्म दिया करता है| जब हिंदूओं तथा बौद्धों द्वारा 'संसार' और अहंकार अथवा 'स्वयं के स्वायत्त-बोध' का विखंडन संपन्न हो जाता है, तब ब्रह्म से एक होने की, ब्रह्मज्ञान-आत्मज्ञान प्राप्त होने की अवस्था अथवा निर्वाण का आनंद प्राप्त होता है|

यहूदी तथा ईसाई मजहब पूर्ण-द्वैत पर डटे हुए रहते हैं, अर्थात, दृश्य से दृष्टा को सदा, पृथक देखना और इस प्रकार मानव एवं ईश्वर के बीच आधारभूत अभिन्न एकता को समझना या अनुभव करना, उनके लिए संभव ही नहीं होता| अहंकार, अपने इरादों को पूरा करने, वासनाओं को भोगने, एवं जो अप्रिय है उससे बच कर रहने का प्रयास करने के लिए द्वैत में जीता है, यद्यपि उसके ये इरादे सदा के लिए अपूर्णनीय रहते हैं| अहंकार मानस की एक कृत्रिम रचना है और इसलिए एक भ्रम, यह विचार तो उन्हें बिलकुल ही अस्वीकार्य है| इस प्रकार अहंकार के सभी कृत्य, उसी अहंकार को खुराक एवं ताकत देते रहते हैं| बौद्ध दृष्टिकोण से पश्चिम के इतिहास के विषय में डेविड लॉय ने एक प्रबंध का विकास किया है, जिसका उल्लेख उनकी पुस्तक "बौद्ध दृष्टि में पश्चिम का इतिहास" में है - वे व्याख्या करते हैं कि, उसके अलग अलग अवयवों समेत जो पश्चिम कहलाता है, वह 'स्वयं' की एक दोषपूर्ण परिकल्पना पर आधारित है, जो उनके अनुसार 'अभाव' की एक ऐसी सोच पर निर्भर है, जिसे 'दुःख' के समकक्ष समझा जा सकता है| इस 'स्वयं के बोध' की संरचना, द्वैत के आधार पर होती है, जिसमें सदा के लिए, 'स्वयं' व 'दूसरे' के बीच तनाव निहित रहेगा ही| लॉय पश्चिमी इतिहास को उसके 'स्वयं-बोध' के सामूहिक स्वरुप की संकल्पना के विकास के दायरे में देखते हैं, जो विविध अभावों/दुःख उसने अपने हर पड़ाव पर झेले हैं, व जो जो इलाज उनके निराकरण की असंभव खोज के लिए उसने जारी रक्खे हैं| दुःख के इलाज के लिए बाहर की ओर देखना, स्वाधीनता के विचार को प्राप्त करने की पश्चिमी परिभाषा है| लॉय यह भी सुझाव देते हैं कि मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, आदि स्वायत्तता की वैकल्पिक संकल्पनाएँ हैं, जिन पर पश्चिम ने पर्याप्त रूप से अथवा गंभीरतापूर्वक कभी विचार नहीं किया और वे यह दावा करते हैं कि पश्चिमी स्वायत्तता का इतिहास, उसके स्वयं-बोध की छवि के निर्देशों से हांका जाता रहा है, जिस अहम को सीमित विश्व में अमित विस्तार की चाह रही है| पश्चिम की स्वयं की यह छवि, पाप के बंधन के संस्कारों से भरे, ईसाई मूल पाप से सने व्यक्तित्व के विचारों द्वारा हांकी जाती रही है, जो भविष्य में उद्धार के परिदृश्य की आस में, सदा वर्तमान क्षण से पलायन करना चाहता है|

ईसा, अवतार नहीं हैं: ईसाई यह मानते हैं कि पूर्ण रूपेण केवल एकमात्र ईसा ही हैं जो शारीरिक एवं आध्यात्मिक रूप से परमेश्वर के समान हैं, और प्रायः ऐसे प्रयास होते रहते हैं कि उन्हें अवतार बताया जाय, जो एक हिंदू पद है| मुक्तिदाता ईसा तथा हिंदुओं के अवतार में मुख्य अंतर पर सबसे उत्तम व्याख्या आंतोनियो द निकोलस ने की है| "ईसा की मुक्तिदाता छवि ईश्वर और पाप से भरी मानव जाति के बीच मध्यस्थ है| हम इस छवि को बलि के बकरे के रूप में भी जानते हैं और एक स्थानापन्न राजा के रूप में भीः जिसे शेष समुदाय की मुक्ति हेतु किसी खास मौके के लिए शिकार के रूप में चुना गया था...मुक्तिदाता/पापी की संकल्पना की इस योजना में व्यक्तियों के लिए अपने आध्यात्मिक ज्ञान को सुधारने की गुंजाईश के लिए संभावना अधिक नहीं है...यहूदी, इस्लाम एवं ईसाई मजहब, इस योजना के अनुयायी तथा संस्थापक हैं...व्यक्तिगत परिपूर्णता इस योजना हेतु पूर्ण समर्पण में ही है...दुनिया में जहाँ भी हिंसा व्याप्त है, वहां यह मुक्तिदाता योजना चालू है "| लेकिन अवतार की संकल्पना इससे भिन्न हैः "दूसरी ओर, मुक्तिदाता योजना की तुलना में अवतार योजना में मानव विकास की संभावनाओं का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है, और असत् (अव्यवस्था) के गर्भ से उपजने वाली अनंत संभावनाओं में से नायकों, देवों, मनुष्यों आदि सभी संभव रूपों, में मानवीय आकार, जन्म लेने की प्रतीक्षा करते रहते हैं जो सभी त्याग की परिभाषा से परिचित होकर, उत्सर्ग हेतु सदा तत्पर रहते हैं..."| इस ब्रह्माण्ड रुपी ईश्वर को ही हम 'जगत' कहते हैं; और उसकी दिव्य लीला अनेक रूपों में विकसित होकर प्रकट होती रहती है; इसलिए, इन्सान वास्तव में मनुष्य रूप में ईश्वर ही है, वह उससे कम कतई नहीं| इसी कारण ईसाइयत का यह विशिष्ट दावा कि ईसा ही ईश्वर के एकमात्र प्रतिनिधि हैं, भारतीय धार्मिक मतों को बिलकुल स्वीकार्य नहीं है| अवतार ईश्वर का दृश्य रूप है, तथा उसके अनंत गुणों में से, उनकी विभूति किसी एक या अधिक गुणों के सत्य की जीवंत अभिव्यक्ति होती है| ईश्वर द्वारा चुने गए पैगम्बरों की तरह, अवतार मध्यस्थ का दायित्व नहीं निभाते हैं|

' होली स्पिरिट ', शक्ति अथवा कुण्डलिनी का समानार्थी नहीं है: सभी मतों में समानता की प्रचलित खोज के फिराक में, प्रायः यह सुझाव दिया जाता है कि ईसाइयत का होली स्पिरिट, हिंदू धर्म में चर्चित शक्ति अथवा कुण्डलिनी के समान है| जो भी हो, देवत्व का निरूपण करने वाले ये शब्द, परस्पर भिन्न ही नहीं हैं, असंगत भी हैं| अन्य बातों के अलावा, इन शब्दों के अर्थ असमान एवं भिन्न ब्रह्माण्ड विज्ञानों पर आधारित हैं| प्रारंभिक वैदिक साहित्य ने, जगत को शक्ति की अभिव्यक्ति बताया और यह कहना उचित होगा कि पर्यावरण को देवी मानकर, यथार्थ में उसकी सुरक्षा की व्यवस्था स्वतः हो जाती है| ईसाइयत में, होली स्पिरिट को मानव के 'अंदर' माना है, यद्यपि शक्ति के विचार से भिन्न, वह मानव के 'स्वयं-बोध' अथवा ब्रह्माण्ड के सार के रूप में नहीं समझा जाता, लेकिन इस पर उनका हठ तो है कि वह ऊपर से अथवा 'स्वयं' के बाहर से उतरा है, जबकि, हिंदू शास्त्र कहते हैं: 'यह देह स्वयं ही देवी का मंदिर है, यह उसका डेरा है'|

शक्ति को गलत रूप से ईसाई संरचना में बैठाने का एक और दुष्परिणाम यह निकला है कि, हिंदू देवी की उपासना को कुमारी मरियम माता की 'वरशिप' का समानार्थी मान लिया गया है| ईश्वर की उपासना देवी माता के रूप में करना, जो महत-प्राण की प्रथम अभिव्यक्ति हैं, वह जो क्रियात्मक शक्ति हैं जिसके गर्भ से समस्त ब्रह्माण्ड एवं उसके सभी रूपों की रचना होती है, यह विश्व को हिंदू धर्म की एक अनोखी देन है| बुद्ध धर्म में भी क्वान यिन के नाम से देवी माता करुणा की मूर्ति हैं, देवी या शेराप चामा के रूप में, वह महिला हैं जो असाधारण विधि से परंपरा की 'महान माता' बन गयीं थीं| स्पष्ट है कि, जिस प्रकार का स्थान कुमारी मरियम माता को ईसाइयत में प्राप्त है एवं जिस रूप में उन्हें, आम तौर पर उनके द्वारा समझा जाता है, वह

उस से बिलकुल भिन्न है, जिस प्रकार हिंदुओं में, देवी समझी जातीं हैं एवं उनकी विविध अभिव्यक्तियों के माध्यम से उनको जिस प्रकार से उनके भक्तों द्वारा अनुभव किया जाता है|

पैगम्बर या ईसाई संत, ऋषि, गुरु या योगी के समानार्थी नहीं हैं: ईसाई संत का अधिकारिक अर्थ है, वह जो मर चुका है और जिसे रोमन कैथलिक अथवा पूर्वी ईसाई चर्चों द्वारा मान्यता दी गई हो कि, ईसाइयत के वादे के अनुसार स्वर्ग में उसे मुक्ति मिल गई है एवं उसे ईश्वर का दिव्य दर्शन मिल गया है| औपचारिक रूप से १०,००० से अधिक मान्यता प्राप्त कैथलिक संत हैं और इससे कहीं अधिक हैं पूर्वी ईसाई चर्चों में| यह आवश्यक नहीं कि वे चेतना के किसी उत्कर्ष हेतु माने गए हों, बल्कि अपने बलिदान के लिए ही उन्हें मान्यता दी गई होती है| कई संत न तो रहस्यवादी थे और ना ही मत्शास्त्री| संत माने जाने का मुख्य आधार दबाव की स्थिति में व्यक्तिगत निष्ठा बनाये रखना एवं चमत्कार करना होता है|

संत शब्द का इस्तेमाल करने से प्रोटेस्टंट लोग परहेज़ किया करते हैं, यद्यपि कई प्रोटेस्टंट मत प्रचारक स्वयं, का ईश्वर से सीधा संपर्क होने का दावा करते हैं| यह संपर्क ईश्वर की इच्छा के लिए होती है, न कि ईश्वर के सत्-चित-आनंद स्वरुप के लिए| रोमन कैथलिक लोगों से कहीं अधिक, ईश्वर से संपर्क करने में मानवीय प्रयास के महत्व को प्रोटेस्टंट नकारते हैं, जिसे वे पूर्ण रूप से ईश्वर की कृपा पर आश्रित मानते हैं| इस प्रकार 'संत' शब्द को 'गुरु' या 'योगी' का समानार्थी मानना बड़ी गलती है, अथवा वैसे ही आचार्य, साधू या जीवनमुक्त – जैसे संबोधनों को जो संस्कृत में विभिन्न स्तर की प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अवस्थाओं के लिए प्रयुक्त होते हैं, के लिए इस तरह 'संत' शब्द के समान मानना बड़ी गलती है|

इब्राहिमी मजहबों में पैगम्बर वह है, जिसे दैवी इच्छा को पृथ्वी तक पहुँचाने हेतु ईश्वर ने चुना है, जिसमें एक साधारण व्यक्ति के समान ही संस्कार होते हैं और यह कतई आवश्यक नहीं है कि वह एक पवित्र इंसान हो या फिर उसने एक योगी के समान जीवन जिया हो| यह आवश्यक नहीं कि पैगम्बरों की रायों एवं विश्वासों को मुख्यधारा के दृष्टिकोण से मत्शास्त्री सही ही मानें, और जो स्वयं यह भी स्पष्ट करते हैं कि महत्व, ईश्वर के सन्देश का है, पैगम्बर का नहीं| ऋषियों के उद्गारों से भिन्न जो बात मार्के की है, वह यह है कि, ईश्वर के सन्देश जिन्हें पैगम्बर लोग पृथ्वी तक पहुंचाते हैं, वे अधिकांश रूप से विशिष्ट ऐतिहासिक अथवा भविष्य की घटनाओं से सम्बंधित होते हैं| भीषण तबाही मचा सकने की क्षमता रखने वाले झूठे पैगम्बर बहुत खतरनाक हो सकते हैं, जिसके कारण ही इतिहास के सही होने को लेकर चर्च को इतनी चिंता हुआ करती है| यहूदी-ईसाई सोच के अनुरूप, ईश्वर के पैगम्बर होने का दावा ऋषि नहीं करते| यह महत्वपूर्ण है कि अंतर्मत संवादों एवं संबंधों के आयोजनों में भाग लेने वाले लोग, इन विभिन्नताओं को सतर्कता से पहचानें, क्यूंकि किसी भारतीय धार्मिक शब्द, पद अथवा श्रेणी पर तथाकथित पश्चिमी समानार्थी पद अथवा श्रेणी को स्थापित करने या इसके उलटे ऐसा करने से उस संस्कृति का अनावश्यक विखंडन हो जाता है|

धार्मिक देवता, मूर्तिपूजकों के देवताओं के समानार्थी नहीं हैं: बुतों की पूजा तथा बहुदेववाद की प्रथाओं को प्रायः कई मतों की श्रंखला से जोड़कर देखा जाता है, जिन्हें पहले प्राचीन इजराइल ने और उसके बाद चर्च ने दुष्टतापूर्ण मानकर नष्ट किया| बुत-पूजकों को नास्तिक माना गया, जिन्हें सामूहिक रूप से 'पराया' बता कर, उन्हें बदनाम किया गया| उनसे युद्ध करना और हराकर उन्हें जबरन ईसाई बनाना होता है| जैसे जैसे यहूदी तथा ईसाई मजहब विकसित होते गए और फैलते गए, उन्होंने बड़ी चालाकी से कई 'बुत-पूजक' एवं

'बहुदेववादी' प्रथाओं, प्रतीकों एवं विचारों को पचा लिया| इस प्रक्रिया के दौरान कई मामलों में, पराई संस्कृति में घुसपैठ कर उसे जबरदस्ती अपना बना लेने का काम होता रहता है और यह कार्य विधिवत ईसायत द्वारा अन्य संस्कृतियों को पचाने हेतु, सामान्यतः अपनाई भी जाती रही है| हिंदू धर्म में देवता एकमेव परमेश्वर के ही विविध प्रतिरूप होते हैं और वे उसी प्रकार सर्वव्यापी भी होते हैं| इस प्रकार, वे पुरे शाश्वत यथार्थ का तान-बाना होते हैं और साथ ही लोकातीत एवं अपरिवर्तनीय भी| बाहरी ब्रह्मांडीय एवं हमारे अंदर विराजने वाली दिव्यताएँ, दोनों ही शक्ति के साक्षात दिव्य रूप होते हैं| हिंदू धर्म में एक शाश्वत यथार्थ की भिन्न मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं, उर्जाओं एवं प्रतिभाओं का प्रतिनिधित्व, विभिन्न देवता करते हैं | विभिन्न शाश्वत तत्वों की पूजा करने के अर्थ में हिंदू धर्म 'बहुदेववादी' (polytheistic) नहीं है|

बुत, मूर्ति का समानार्थी नहीं है: इब्राहिमी मजहबों में 'बुत' शब्द नकारात्मक एवं दुष्टतापूर्ण संकेतार्थों से लदा हुआ है| यह शब्द सामान्यतः झूठे देवताओं की खुदी हुई छवियों को संदर्भित करता है, जिन्हें विशेषाधिकार एवं सुविधाओं को पाने के लिए बलि चढ़ाई जाती थी| कुर्रान, बुतपरस्तों को हिकारत से देखता है, जैसे हिब्रू बाइबिल भी देखता है| दोनों उनके विरुद्ध बल प्रयोग की अनुमति देते हैं| ईसा एवं संतों की मूर्तियों की पूजा को (यद्यपि सीमित तरीके से सावधानीपूर्वक) पूर्वी ईसाई चर्च तथा कैथलिक मतावलंबी अपनाने लगे हैं| ईसाइयत में, संतों की खुदी हुई छवियों को प्रतिमा (icon) भी पुकारा जाता है, जिन्हें पवित्रता के क्रम में कम ही आंका गया है, और जिन्हें आदर (dulia) का पात्र तो माना जाता है, लेकिन पूजा (latria) के योग्य नहीं, जो वास्तव में केवल ईश्वर की ही हो सकती है| सीधे सीधे बोला जाय, तो यह कहा जा सकता है, कि जिन्हें ईसाई आदर देते हैं वे प्रतिमाएँ हैं और जिन्हें काफ़िर पूजते हैं वे बुत बताये जाते हैं|

ईसाई उपनिवेशवादियों का जब भारतीय संस्कृति से पहले-पहल सामना हुआ, तब प्रचलित हिंदू धर्म में छवियों एवं प्रतिमाओं को जो महत्व दिया जाता था, उससे यहूदी तथा ईसाई मजहबों के अनुयायियों के अंदर एक खास तरह का अंदरूनी विकर्षण पैदा हुआ था (और अब भी होता है)| कोई तर्कसंगत वजह नहीं है कि ईश्वरत्व का भारतीय निरूपण, प्रतिमाओं के रूप में स्वीकार्य न हो, और उन्हें बुत ही माना जाय| निश्चित ही, ईश्वरत्व के ऐसे निरूपण की प्रकृति एवं उपयोगिता के विषय में भारतीय धार्मिक समझ से पश्चिम कुछ सीख सकता है| पवित्र छवि के लिए संस्कृत में शब्द है मूर्ति, जिसका अर्थ है 'जागृत', 'वास्तविक' एवं 'जो दिव्य भाव को प्रकट करे'| 'प्राण', अथवा 'दिव्य उपस्थिति' को किसी प्रतिमा के अंदर 'प्राणप्रतिष्ठा' के कर्मकांड के द्वारा स्थापित किया जाता है| एक उत्सव के समापन पर, उस उत्सव के इष्ट की मूर्ति का किसी पवित्र स्थान अथवा जल में 'विसर्जन', अनासक्ति का प्रतीक है| इन कृत्यों में यह सन्देश दिया जाता है, कि किसी को किसी देवता के स्थूल रूप या आकार में आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिए, बल्कि उसके दिव्य भाव को ग्रहण करना चाहिए| श्री अरविन्द कहते हैं - 'उस पत्थर की नहीं, बल्कि उस दिव्य सत्ता की उपासना की जाती है जिसका वह प्रतिरूप हो'|

यज्ञ, ईसाई बलिदान का समानार्थी नहीं है: पश्चिमी विद्वान देवता, या देवताओं को संतुष्ट करने और/या उनके प्रति आभार व्यक्त करने एवं उत्सव मनाने हेतु अर्पित किये गए खाद्य पदार्थ, वास्तुओं, जीवित पशुओं, या लोगों को 'मजहबी बलिदान' के नाम से संदर्भित करते हैं| बलिदान का यह अर्थ रोमन मजहबी सिद्धांत के रूप में समझा जाता है, जिसके अनुसार 'पाने हेतु देना होता है'| ईसा के बलिदान को 'प्रायश्चित्त' के रूप में समझा गया है, जो प्राचीन तथा मध्य-युगीन कानूनी चलन एवं रीति-रिवाजों की खास पहचान हुआ करती

थी| ईश्वर ने अपने और मानवता के बीच पुनः मेल-मिलाप सम्पादित करने हेतु अपने एकलौते बेटे का बलिदान किया, ताकि आदम तथा हव्वा द्वारा किये गए मूल पाप से पैदा हुई समस्या का निदान हो सके| मानवता को अनंत नरकवास से बचाने हेतु यह आवश्यक था कि ईश्वर के न्याय के लिए इस मूल पाप का प्रायश्चित्त किया जाय| यह बलिदान 'सब के लिए केवल एक बार' कर दिया गया, और नव विधान यह बताता है इसे फिर से दुहराना नहीं है|

यहूदी एवं प्रारंभिक ईसाई दोनों परम्पराओं में, बलिदान की संकल्पना ने, शहादत के रूप में स्वयं के बलिदान की धारणा का स्वरुप ग्रहण किया और चर्च ने अपने अनुयायियों को स्वयं को मुसीबत में डालकर और इस प्रकार अपने विरुद्ध हिंसा भड़का कर, शहीद हो जाने के लिए प्रेरित किया| चर्च द्वारा संत के रूप में घोषित एवं अभिस्वीकृति-प्राप्त हजारों संतों में से अधिकांश संत इसी प्रकार के शहीद थे| मजहब के एक विद्वान, जोनाथन किरिश ने यह बताया है कि ईसाईयों को चौथी सदी से, हिंसा भड़काने हेतु दूसरों के विरुद्ध आक्रामक होने के लिए प्रेरित किया गया ताकि उसे घुमाकर उनपर अत्याचार के रूप में उसे प्रकट किया जा सके| शहादत के दौरान मृत्यु को 'रक्त से बाप्तिस्मा' माना गया, जो शहीद को 'पानी से बाप्तिस्मा' के समान मूल पाप से मुक्त कर देता है| डेन्वर, कोलोराडो में स्थित कुख्यात जौशुआ परियोजना, अरबों डॉलर वाला एक वैश्विक संगठन है, जिसका घोषित उद्देश्य पूरी मानवता को धर्मान्तरण के माध्यम से ईसाई बनाना है| यह परियोजना कहीं भी किसी भी ईसाई की मृत्यु, जिसका दोष दूसरों पर मढ़ा जा सके, के गलत आंकड़े तथा सूचनाएँ पैदा करने वाला एक सुचालित यंत्र है| भारत के मामले में, जौशुआ परियोजना का काम हिंदुओं पर अंगुली उठाना है, जिन्हें एक प्रतिद्वंदी के रूप में मानते हुए, उन्हें भारत देश का प्रमुख मत होने के कारण, पराजित करने हेतु, स्पष्ट तरीके से ऐसी घटनाओं में लक्ष्य बनाया जाता है|

पश्चिमी विद्वान अनुचित ढंग से ईसाई अर्थों में, बलिदान को संस्कृत शब्द यज्ञ का समानार्थी मानते हैं, जिसका वास्तविक तात्पर्य 'यथार्थ के विभिन्न स्तरों के बीच आदान-प्रदान' होता है| श्रीमद भगवद-गीता (३:९ – १६) कहती है कि देवता हमें पोषण देते हैं और हमें देवताओं को पोषण देना चाहिए| यज्ञ की क्रिया मानवता को देवताओं से बांधने का सूत्र है, और 'सर्वव्यापी ब्रह्म सदा से ही यज्ञ में स्थापित हैं' (गीता ३:१५)| सृष्टि स्वयं अपने को यज्ञ से ही पोषित करती है| अपने जीवन को दूसरों के लाभ के लिए समर्पित करना ही यज्ञ के पीछे का मुख्य सिद्धांत है| यज्ञ की क्रिया व्यक्त को अव्यक्त से जोड़ने की प्रक्रिया भी है| बलिदान के रूप में यज्ञ के अनुचित अनुवाद के द्वारा, कई पश्चिमी विद्वानों ने जान-बुझ कर यहूदी तथा ईसाइयत में आरंभ से प्रचलित मानव-बलि एवं शहादत के इतिहास को, इस पवित्र भारतीय धार्मिक कर्मकांड के स्थान पर जोड़ दिया है| ईसाइयत ने अपने प्रचार-प्रसार हेतु शहादत को एक उपासना-पद्यति के उच्च स्तर पर पहुँचा दिया, जबकि, भारत में ऐसा कभी नहीं हुआ|

कर्म, पीड़ा (सफरिंग) की पश्चिमी अवधारणा का समानार्थी नहीं है: सभी मनुष्यों में मूल पाप की अवधारणा के सारभूत दोष पर ईसाई-यहूदी मजहबों की निर्भरता, आजीवन उनका पृथ्वी पर पीड़ा-युक्त जन्दगी बिताने को अनिवार्य कर देता है| इस प्रकार, पाप से पीड़ा पैदा होती है, अज्ञान से नहीं, जिसका इलाज उनके अनुसार केवल ईश्वर द्वारा क्षमा किये जाने का कृत्य है| ईसाइयत के मामले में, केवल ईसा, ईश्वर के पुत्र के रूप में, दूसरों को मुक्ति प्रदान कर सकते है, क्यूंकि केवल वे ही मूल पाप से मुक्त हैं - (कुंवारी माँ से जन्म लेना इसीलिए अति महत्वपूर्ण है)| पूरी मानवता को नरक से बचाने हेतु, ईसा की कृपा को उपलब्ध कराने

के दावे का एकाधिकार इस प्रकार, ईसाई चर्चों के पास है| इसलिए, ईसाई तथा यहूदी मजहबों का सदा से यह मानना रहा है कि, मानव-ह्रदय में विराजमान ईश्वर की मूलभूत हिंदू अवधारणा, एक जुगुप्सायुक्त विचार है एवं नैतिक पतन का लक्षण है|

पश्चिमी अहम, चाहे वह मजहबी हो या लौकिक, व्यक्तिगत हो या सामूहिक, वह मानता है कि उसका एक मिशन है जो उस से काम करवाता रहता है; उसकी अपनी एक परिभाषा है जो उसे हम सबको एक शानदार भविष्य की ओर हांकने वाले इतिहास का मुख्य प्रतिनिधि बनाता है| हेगल के रेखीय-इतिहास (linear history) की सोच का दावा, कि गैर-पश्चिमी सभ्यताएँ इस आक्रामक पश्चिमी 'भावना' से विरत हैं, इस लिए उन्हें पीड़ा झेलनी पड़ती है, जब तक पश्चिम उन्हें सफलतापूर्वक उससे उबार कर अपने में आत्मसात नहीं कर लेता| बाद में, शोषण को समझाने हेतु उसका विश्लेषण कर, मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत का उपयोग किया गया और प्रबल पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध, सर्वहारा के मसीहाई जिद्दोजहद से समाधान सुझाया गया|

भारतीय धार्मिक परंपराओं की, मानवीय परिस्थिति के विषय में इससे भिन्न सोच है| वह अविद्या है जो कार्य-कारण श्रंखला को जन्म देती है और उसी से व्यक्तिगत एवं सामूहिक पीड़ा एवं दुःख की परिस्थितियां पैदा होतीं हैं| 'कर्म सिद्धांत' को मान ने वाली, विभिन्न भारतीय दर्शन प्रणालियों द्वारा ऐसी समझ अभिव्यक्त की जाती है, जो अनुवादेतर संस्कृत शब्द 'कर्म' के अनुसार उसके विचारों, भावनाओं एवं कृत्यों का फल, बर्तमान में तथा भविष्य में हर किसी व्यक्ति को मिलता है| 'कर्म' एवं 'कर्मफल', इस प्रकार 'कार्य-कारण' का एक मनोवैज्ञानिक नियम है| कोई भी व्यक्ति, किसी दूसरे व्यक्ति के कर्म-फल को नहीं भोगता; इसलिए, हर एक व्यक्ति के कर्म-फल का खाता, अलग होता है जिसमें उसके सब जन्मों के एवं इस जन्म के, अब तक के समस्त कर्मों के फल अंकित होते हैं| हर एक व्यक्ति की अद्वितीय विशिष्टता का आधार, भारतीय मनोविज्ञान में यही है, जिसके विषय में पश्चिमी विद्वानों ने गलत तरीके से यह दिखाने का प्रयास किया है, कि भारतीय परम्पराओं में हर व्यक्ति में विशिष्टता की कमी है और केवल पश्चिम में ही व्यक्तिवादिता का भाव है| पीड़ा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण इस प्रकार, न तो भाग्यवादी अभिस्वीकृति ही है और ना ही इसका उल्टा, अर्थात मानव जीवन में व्यक्ति को कुछ भी करने की, खुली छूट है| वर्तमान में, बिना हाय-तोबा के पीड़ा की अभिस्वीकृति, और निकट भविष्य में, उसे कम करते रहने के लिए प्रयत्नशील रहना, और अंततः, कर्म-फल के बंधन से मुक्त हो जाने के लिए, सतत रूप से साधना-रत रहना, यही जीवन-साधना है|

कर्मफल, ईसाई अर्थों में 'मुक्ति' का समानार्थी नहीं है: यद्यपि 'कर्म' एक भारतीय धार्मिक शब्द है, वह पश्चिमी शब्दकोष में 'कर्म' नाम से 'कर्मफल' के रूप में प्रचलित हो चला है| 'कर्मफल का सिद्धांत' कुछ अर्थों में, बाइबिल आधारित न्याय की अवधारणा से समानता रखता है, यद्यपि इन दो संकल्पनाओं में भी महत्वपूर्ण भिन्नताएँ हैं| यहूदी तथा ईसाई मजहबों में, इंसाफ सबको अंततः, केवल 'न्याय के दिन' मिलेगा, जब हर व्यक्ति को उसके सब कामों के लिए जिम्मेदार ठहराया जायेगा और उसके अनुसार ही उसे स्थायी रूप से स्वर्ग या नरक में भेजा जायेगा, जबकि हिंदू धर्म का विचार है कि स्वर्ग व नरक की इन दो अवस्थाओं में निवास, सदा अस्थायी होता है और वह भी अच्छे-बुरे कर्मों के अनुपात में ही होता है| एक सर्वनाशी-भविष्यसूचक संघर्ष के समापन पर, यह 'न्याय का दिन' आता है, जिसे गुह्य भाषा में वे 'समय का अंत' कहते हैं| 'कर्म सिद्धांत' में, इसके विपरीत ऐसा कोई निश्चित वैश्विक 'न्याय का दिन' नहीं होता; बल्कि, बिना ऐसी कोई समय-सीमा के अथवा किसी सामयिक सन्दर्भ के भी, जिसमें सभी अच्छे या बुरे कर्म-फल

स्थायी रूप से समाप्त हो जाएंगे, नहीं होता| 'कर्म-फल' का सिद्धांत एक सतत प्रवाही-स्वसंचालित, ब्रह्मांडीय व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत सब कर्मों के फल मिलते हैं और भोगे जाते रहते हैं, जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान में 'कार्य-कारण' की प्रक्रिया सदा चालू रहती है और इस सन्दर्भ में पुनर्जन्म का विचार महत्वपूर्ण है, ताकि उपयुक्त फलों को भोगने हेतु तदनुसार, आवश्यकतानुसार हर किसी को नया जन्म मिलता रहता है| ईसाइयत में, और पश्चिमी लौकिक (अर्थात मनोविज्ञानिक) विचार में, फल प्राप्ति की समय-सीमा सामान्यतः एक जीवन-काल मानी जाती है| 'कर्म-फल' के सिद्धांत से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यूँ दो भिन्न प्रकृति के व्यक्ति बिलकुल अलग-अलग परिस्थितियों में पैदा होते हैं, जबकि, ईसाइयत के अनुसार मनुष्यों के गैर-बराबरी के जन्म, ईश्वर की रहस्यमयी मर्जी से होते हैं| इन परम्पराओं में प्रमुख अंतरों के सार की एक तालिका **विभिन्नता** के पृष्ठ ३३२ पर उपलब्ध है तथा दूसरी तालिका जो इन परम्पराओं में पीड़ा, कर्म, मुक्ति एवं मोक्ष के सन्दर्भ में तुलना प्रस्तुत करती है, वह इसी पुस्तक के पृष्ठ ३३३ पर उपलब्ध है (respectively on pages 299 and 301 of 'Being Different')|

कर्मयोग , ईसाई ' वर्क्स ' का समानार्थी नहीं है: 'वर्क्स' एक ईसाई शब्द है जो हिंदू तथा बौद्ध धर्मों में आध्यात्मिक साधना एवं कर्मयोग से मिलता-जुलता है| कठोर प्रोटैस्टंट परम्पराओं में, कोई भी अपने प्रयास या 'वर्क्स' से मुक्ति 'कमा' नहीं सकता, चाहे वह आध्यात्मिक साधनाएँ हों, उपकार के कृत्य हों, या आत्म-बलिदान हो; प्रोटैस्टंट मत के अनुयायियों के लिए, यह भ्रान्ति कि कोई मुक्ति को 'कमा' भी सकता है, उनके आध्यात्मिक विकास की बाधाओं में प्रमुख है| इसके परिणामस्वरूप, प्रोटैस्टंट मतावलम्बियों में योग-साधना जैसी भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रति गहरा अविश्वास है| कैथलिकों में, कुछ आध्यात्मिक साधनाएँ ऐसी अवश्य हैं जो भारतीय साधनाओं से मिलती-जुलती हैं, जैसे कि माला जपना, लेकिन उनमें भी बहुत ऐसे हैं जो योग-साधना से परहेज़ करते हैं, अंशतः इसलिए कि, इससे ईसाई विशिष्टता को खतरा पैदा हो सकता है| भारतीय धर्म के अनुसार, जीवन के प्रमुख उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु, व्यक्तिगत साधना एवं कृपा दोनों की ही आवश्यकता होती है| भगवद्गीता कर्मयोग पर जोर देती है, अर्थात ईश्वर को सभी कर्म-फलों का समर्पण करने से मुक्ति पाना| यहाँ प्रयोग किये गए शब्द 'समर्पण' का अर्थ, जिम्मेदारी से छुटकारा पाना नहीं है, ऐसी आशा से की सब काम ईश्वर स्वयं करेंगे - (हिंदू परंपरा ऐसी सोच को तामसिक गैर-जिम्मेदारी का एक रूप कहेगी)| 'योग' शब्द की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द के अनुसार - "यह कोई नुस्खा या व्यवस्था या जड़ साधनाओं का सम्मुच्चय नहीं है, बल्कि ब्रह्माण्ड की मूल प्रकृति पर आधारित यह एक शाश्वत तथ्य है"|

ईसाई मुक्ति, जीवन्मुक्ति एवं मोक्ष का समानार्थी नहीं है: मूल पाप से उत्पन्न शाश्वत नरकवास की समस्या से बचने का समाधान, ईसाई मुक्ति है| लेकिन ऐसी कोई समस्या भारतीय धार्मिक परम्पराओं में विद्यमान नहीं है| धार्मिक मुक्ति एवं ईसाई मुक्ति में मौलिक भिन्नताएँ हैं| अज्ञान, पूर्व संस्कारों एवं कर्मों के बोझ से मुक्ति ही वास्तव में मोक्ष है| ईसाई मुक्ति, दूसरी ओर, बढ़ी हुई जागरूकता अथवा चेतना के विकास, रहस्यमय परा-प्रकृति का ज्ञान, या भौतिक साधनाओं (यद्यपि ये सम्मिलित किये भी जा सकते हैं) से कोई मतलब नहीं रखती| उस मुक्ति की अनुभूति केवल ईश्वर की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण से ही हो सकती है, और ईश्वर ऐसे मामलों में केवल बाइबिल का ही ईश्वर हो सकता है| एक और अवस्था जो संस्कृत में वर्णित है, जिसके सम-कक्ष ईसाइयत में कोई अवस्था नहीं है, वह है एक ऐसा व्यक्ति जिसे संस्कृत वांग्मय में जीवन्मुक्त कहा गया है - ऐसा व्यक्ति जो अपने पूर्व कर्मों से पूर्ण रूप से मुक्त (अर्थात, कर्म-बंधन से मुक्त) हो चूका है और फिर भी, वर्तमान में संसार में सक्रिय है|

भाग २

अध्याय ६ – पश्चिमी सार्वभौमिकता से मुकाबला

लेखक का इस पुस्तक को लिखने के उद्देश्यों में प्रमुख है, पश्चिमी सार्वभौमिकता के दावों को नकारना| इन दावों के अनुसार, पश्चिम ही इतिहास को चलाने वाला है और उसका लक्ष्य भी, और इस तरह से वह नमूना भी स्थापित करता है, जिसे अन्य सभी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों को अपनाना ही होगा| यह विचार यूरोपियों तथा अमरीकनों की अन्तश्चेतना में इतनी गहराई से समा गया है कि, वह उनकी पहचानों का प्रमुख हिस्सा बन चुका है| इस पर भी, वह पश्चिम के लिए उनके ही परिप्रेक्ष्य से लगभग अदृश्य ही है| पूर्व-पक्ष की विधि से अथवा पूर्व की ओ़र लगी पश्चिम की 'एकटक दृष्टि को पलटने' से, हम पश्चिमी सार्वभौमिकता के विचार पर प्रकाश डाल सकते हैं एवं यह भी समझ सकते हैं कि, किस प्रकार इस कारण से भारत तथा उसकी धार्मिक परम्पराओं को गलत समझकर, नीचा दिखाया गया|

पश्चिमी सार्वभौमिकता को पहली बार तब जोरदार व्यापक अभिव्यक्ति मिली जब, अठाहरवीं सदी के अंतिम एवं उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों के दौरान यूरोप में रूमानी आन्दोलन छाया रहा| इसके चार मुख्य प्रतिफल हुए, जिनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध भारत और उसकी धार्मिक परम्पराओं से है: १) एक आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक, तथा भौतिक संसाधन के रूप में भी पूर्वात्य की 'खोज'; २) पश्चिमी, विशेष कर, जर्मन नस्लीय पहचानों को सुदृढ़ करने में संस्कृत का उपयोग; ३) एशियाई राष्ट्रों के मुकाबले, यूरोपीय तथा अमरीकन राष्ट्रों में व्याप्त, एक 'सार्वभौम' विश्व-भाव के प्रादुर्भाव के रूप में वैश्विक इतिहास के एक आख्यान का विकास (जिस आख्यान का प्रतिपादन मुख्य रूप से एक व्यक्ति, हेगल द्वारा किया गया); और ४) इस आख्यान का वापस भारत को निर्यात होना, जिसका सीधा प्रभाव यह हुआ कि उस समय इस उभरते हुए शक्तिशाली पश्चिमी 'सार्वभौमिक' मिथक के अलोक में भारतीय लोगों को अपने भूतकाल के विषय में, गंभीरता से नए तरीके से सोचने की आवश्यकता तब महसूस होने लगी|

जैसा कि हम देखेंगे, इन चारों दृष्टिकोणों का प्रभाव आज भी विद्यमान है, जो हर झड़प में हावी रहते हैं जब, पश्चिम की भारत से मुलाकात होती है, खासकर उन अवधारणाओं के रूप में जिन पर यह 'सार्वभौमिकता' का मिथक टिका हुआ है| यद्यपि इससे मिलती-जुलती प्रवृत्तियां हर सभ्यता में होतीं हैं, लेकिन पश्चिम अपने इतिहास के विवरण, दर्शन तथा पहचान को दूसरों पर थोपने में विशेषकर सफल रहा| इस प्रक्रिया को अन्जाम देने हेतु, दूसरों के इतिहासों और पहचानों को पचाने की आवश्यकता पड़ी, ताकि उनमें जो कुछ उपयोगी था उस हिस्से को पश्चिम का भाग बना दिया गया| परस्पर विरोधी विश्व-दृष्टियों को जोड़ने के प्रयासों व अनेक विस्तार की परियोजनाओं से पोषित, अहम की व्यग्रताओं से यह प्रक्रिया संचालित है|

ईसाइयत का तो यह दावा है कि, उसे पूरी दुनिया पर अपनी इतिहास-केन्द्रिकता थोपने का ईश्वरीय आदेश है, लेकिन प्रबोध काल के कई यूरोपीय दार्शनिकों ने भी नाना प्रकार के वैचारिक परम सिद्धांत विकसित किये जिन्हें 'वैश्विक' दर्जा दे दिया गया| एक गंभीर पूर्वधारणा रची गई कि, विश्व इतिहास का आकार व दिशा उसे केवल पश्चिमी लक्ष्य की ओ़र ले जा रहे हैं - चाहे वह मुक्ति हो अथवा वैज्ञानिक लौकिक प्रगति| इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु विविध व्यवस्थाएँ बनी, जिनमें विश्व के सभी लोगों एवं संस्कृतियों को बैठाया गया| इसके परिणाम-स्वरुप विभिन्न गैर-पश्चिमी सभ्यताओं की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक सम्पदा का पश्चिम द्वारा

हड़पना जारी रहा| ऐसी सार्वभौमिकता मानव की आवश्यताओं को पूरा करने में असफल रही है; बहुत होगा तो इससे पश्चिमी निर्देश पर सभ्यता की एक प्रकार की कृत्रिम एकता हासिल हो भी सकती है|

पश्चिम द्वारा पचाने एवं संश्लेषण - विषयक एक अध्ययन में जर्मनी का स्थान : अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध एवं उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में, जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में तथाकथित रूमानी आन्दोलन के नेता गण, प्राचीन भारत में विशेष दिलचस्पी दिखाने लगे| तब प्रचलित विचार कि यूरोपीय संस्कृति की उत्पत्ति का आधार यहूदी है, का मुकाबला उसकी उत्पत्ति का आधार भारत है, करने लगा| इस बदलाव का मुख्य कारण यह था कि, संस्कृत को प्रमुख यूरोपीय भाषाओँ के करीब पाया गया - जबकि हीब्रू उनके करीब नहीं थी - और सभी यूरोपीय विद्वान, संस्कृत में लिखे गए भारतीय शास्त्रों की खोज से चमत्कृत थे, जिसका उपयोग उनके भूतकालीन इतिहास के पुनर्निर्माण में भी किया जा सकता था|

सन १८०० और १८५० के बीच, लगभग हर प्रमुख यूरोपीय शिक्षा केन्द्र ने एक संस्कृत अथवा भारत-शास्त्र (Indology) का विभाग स्थापित कर दिया था, वह भी कई स्थानों पर लैटिन एवं ग्रीक का स्थान गिरा कर| एक प्राचीन परिष्कृत संस्कृति से इस प्रकार की नजदीकी ने, बुद्धिजीवी वर्ग के विद्वानों को उसके साथ यूरोपीय इतिहास को साझा दिखाने की खोज के लिए प्रेरित किया| बीसवीं सदी के आरंभ तक, पूरे यूरोप तथा अमरीका में भाषा विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृत का बढ़-चढ कर बोल-बाला बना रहा, लेकिन बीसवीं सदी के मध्य तक, संस्कृत की गहन शिक्षा में रूचि कम हो चली थी, और आज तो पश्चिमी उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में वह लुप्त प्रायः हो गई है|

यूरोपीय पहचान-राजनीति (identity politics) के आतंरिक संतुलन पर पुनर्जागरण एवं उपनिवेशवाद, दोनों का मिलकर असमान प्रभाव पड़ा| फ्रांसिसी, ब्रिटिश, स्पेनवासी, पुर्तगाली और इतालवी क्रमशः प्रत्येक के पास अपनी अपनी पहचान और अपने अपने नागरिकों के आत्म-सम्मान को बढ़ावा देने के लिए इतिहास का एक एक बृहद-आख्यान मौजूद था, लेकिन जर्मनों के पास ऐसा कोई बड़ा दावा नहीं था, क्यूंकि न तो उनके पास कोई विदेशी साम्राज्य था और ना ही कोई राजसी विरासत, जिसपर वे नाज़ कर सकते| बल्कि, उन दिनों यूरोप भर की पाठ्य-पुस्तकों में जर्मन लोगों को असभ्य बताया जाता था, जिन्होंने पहले रोमन साम्राज्य को और उसके बाद फ्रांस में यूरोप की उच्च संस्कृति को नष्ट किया था| इन परिस्थितियों में, जब जर्मन लोगों को यह ज्ञात हुआ कि संस्कृत भाषा न केवल एक विकसित सभ्यता की सूचक है, बल्कि वह अन्य प्रमुख यूरोपीय भाषाओँ की अपेक्षा जर्मन के सबसे करीब है, उनमें आत्मसम्मान का एक नया भाव पैदा हुआ|

भारत तथा विशेषकर संस्कृत के शास्त्रीय युग के लिए पश्चिम का इस प्रकार का रूमानी आकर्षण, पूर्णतः स्वार्थवश था| भारत से जुडकर जिन जर्मन विद्वानों के काम को आकार मिला उनमें जर्मन रुमानियत के अग्रणियों में सम्मिलित थे: जे.जी.फौन हरडर (१७४४-१८०३) और के.डब्ल्यू.एफ.फौन श्लेगेल (१७७२-१८२९), और इनके अलावा जर्मन आदर्शवाद-व्यवस्था के तीन प्रमुख विख्यात निर्माता थे: एफ.डब्ल्यू.फौन शैलिंग (१७७५-१८५४), ए. शौपेनहोअर (१७८८-१८६०), एवं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता - जी.डब्ल्यू.एफ. हेगल| अपने जीवन के अधिकांश भाग में भारत-शास्त्र में गहरे डूबे हुए इस सदी के अन्य प्रमुख जर्मन विचारकों में सम्मिलित थे: डब्ल्यू. फौन हम्बोल्ट(१७६७-१८३५), फ्रांत्स बौप (१७९१-१८६७) एवं मैक्स मूलर (१८२३-१९००)| नीत्शे के दार्शनिक वांग्मय को भी भारतीय विचारों ने प्रभावित किया था, और गेटे तो

कालिदास के संस्कृत नाटक, अभिज्ञान शाकुंतलम से इतना अभिभूत हुआ था कि उसने अपनी कृति फौस्ट के प्राक्कथन को संस्कृत नाट्य-शास्त्र की परम्पराओं के आधार पर रचा| तब इन जर्मन विद्वानों का संवाद, जीवंत ब्रिटिश और फ्रांसिसी भारतविदों से भी हुआ था, जिसका गहरा प्रभाव पड़ा, उस उभरते हुए 'पश्चिमी विचार -The West' पर जो आज इस नाम से जाना जाता है|

इन तथाकथित नए विचारों के सन्दर्भ से, धीरे-धीरे भारतीय विचारों को हटाया गया और उन्हें नए विकसित हो रहे जर्मन चौखटों में चुन-चुन कर बैठाया गया| इन भारतीय विचारों के नए उद्गम-श्रोतों को खोजने का प्रयास किया गया और प्रमुख यूरोपीय विचारकों द्वारा कई वैकल्पिक परिकल्पनाएँ सुझाई गईं| श्लेगेल, जो जर्मन विद्वानों में सबसे पहले संस्कृत की ओ़र आकृष्ट हुआ था और जो भारत की हर चीज़ का समर्थक बन गया था, एका-इक वापस ईसाई बन गया और उसने, भारत को प्राचीन जर्मन-जाति की जन्मभूमि मानने के अपने पहले के प्रबंध को सरासर नकार दिया| संस्कृत शास्त्रों से भारतीय धर्म को अलग करने का उसने फिर भरसक प्रयास किया, ताकि संस्कृत सभ्यता के गैर-धार्मिक पहलुओं को चुन-चुन कर उन्हें जर्मन-ईसाई पहचान में पचाया जा सके| भारत के प्रति उनकी अबतक की रुमानियत, इस प्रकार धीरे-धीरे घटती चली गई, और श्लेगेल तथा अन्य जर्मन विद्वान, भारत को कई बुराइयों वाला, आदिम समाज समझने लग गए|

हेगल-वादी, पश्चिम का मिथक : यह अक्सर भुला दिया जाता है कि इस दिशा में हेगल का काम, प्राचीन भारत के प्रति रूमानियत से लगाव की प्रतिक्रिया में पैदा हुआ था| उसने भारतीय विचारों (जैसे अद्वैतवाद) को लेकर भारतविदों से संवाद में भारतीय सभ्यता की उपयोगिता के विषय में विरोधी तर्क दिए| उसने माना कि पश्चिम, और केवल पश्चिम ही इतिहास और भविष्य-शास्त्र का अभिकर्ता है| भारत तो 'जड़ता का प्रतीक' है, जिसके सापेक्ष ही पश्चिम को परिभाषित करने हेतु उसके द्वारा उपयोग किया गया| यद्यपि हेगल को इब्राहिमी मजहबों से गहरी नफरत थी, फिर भी उसने उनकी इतिहास-केन्द्रिकता और उनके मुक्ति के बृहद आख्यान को इतनी गहराई से अपना लिया था, कि मूल रूप से उन्हें, उसने फिर से नए रूप में खड़ा कर दिया (शायद अनजाने में), चाहे इस प्रक्रिया में उसके नए विचार अधिक लौकिक और उन मजहबों से अधिक वैश्विक दिखाई पड़ने लगे हों|

वास्तव में इतिहास के हेगलवादी बृहद-आख्यान का महा-नायक 'विश्व-भाव' है (जो कई मायनों में, यहूदी-ईसाई मुक्ति के इतिहास का ही प्रतिबिम्ब है), जो पूरी मानवता की कृत्रिम एकता का ही भाव है, और इस प्रकार, हेगलवादी पश्चिम, निर्विवाद रूप से उत्कृष्ट है क्यूंकि यह उसकी नियति है कि वह इस मुक्ति-यात्रा की अगुवाई करे और अन्य सभी सभ्यताएँ, उसका अनुसरण करें या नष्ट हो जांय, और इससे आगे, कि जो कोई इस योजना में अपने को नहीं बैठाएंगे, वे इतिहास के अंग नहीं हो सकते, यद्यपि 'विश्व-भाव' उनका उपयोग कर सकता है, जैसे पौधों, पशुओं, भूमि आदि का उपयोग किया जाता है| सभी मनुष्यों का भूगोल तो होता है, लेकिन सभी का इस मायने में इतिहास नहीं होता|

कर्तृत्व में कमी के कारण अन्यों में इतिहास का अभाव है, अर्थात, विश्व में कुछ करने और परिवर्तन लाने की क्षमता एवं उसके लिए स्वाधीनता का होना| यह 'विश्व-भाव' विशिष्ट अभिरूप तय्यार करता है, 'और ये अभिरूप विश्व इतिहास के राष्ट्र हैं| इनमें से प्रत्येक राष्ट्र किसी खास विकास-स्तर का प्रतिनिधित्व करता है, और इस तरह ये राष्ट्र विश्व इतिहास के अलग अलग युगों से संगती रखते हैं'| छोटे से बड़े आकारों में 'विश्व-भाव' विकसित होता रहता है; इस लिए विभिन्न राष्ट्रों को हेगल इस विकास-क्रम में भिन्न भिन्न अवस्थाओं

में स्थित मानता है| वह मानता है कि यह ईश्वरीय योजना है| यूरोप और अमरीका को मानवीय विकास के जुड़वा चर्मोत्कर्शों के रूप में दिखाने के लिए, उसने घटनाओं का एक असंतुलित कालक्रम गढा| उसने यह भी घोषणा कर दी कि, भारत का 'कोई इतिहास नहीं है'| इस प्रकार 'विश्व-भाव' स्पष्ट रूप से पश्चिमी है|

उपनिवेशवाद एवं नस्लवाद को सही ठहराना : इतिहास के एक दिशा में चलने का यह हेगलीय सिद्धांत, इतिहास को प्रगति देने के नाम पर पश्चिम द्वारा किये गए औपनिवेशिक शोषण को उचित ठहराये जाने के लिए प्रचलित हुआ| इस विचार को हेगल और आगे ले जाता है, और कहता है कि इतिहास की प्रगति को सुनुश्चित करने हेतु यदि, यूरोपीय लोग कुछ भी करते हों, जो चाहे कितना ही जघन्य क्यूँ न हो, वह मानव विकास के नाम पर उचित ठहराया जा सकता है| सब लोग जो गैर- यूरोपीय हैं, इस प्रकार यूरोपियन हाथों में वस्तुओं के समान हैं| जब ये सिद्धांत अफ्रीकनों पर लागू किये गए तो, वह कहता है - 'वह (काला आदमी) अनगढ़ इंसान है'| हेगल फिर तर्क देता है, कि अच्छा है कि अफ़्रीकी लोग गुलामी में ही रहें जब तक कि वे सभ्य होने की पूरी प्रक्रिया से न गुजर जांय, जिसका अंतिम लक्ष्य है, उनका ईसाई मजहब में पूर्ण रूप से धर्मान्तरित होना|

भारत - इतिहास के बिना जड़वत है: सन १८२८ में ही, श्लेगेल दावा करने लग गए थे कि 'भारतीयों के पास कोई विधिवत इतिहास नहीं हैं, और न ही ऐतिहासिक विज्ञान के कोई शास्त्र...मानवीय कामकाजों एवं घटनाक्रमों के विषय में उनकी सभी अवधारणाएँ पूर्णतः पौराणिक हैं'| इसके दो साल बाद ही, हेगल ने स्वयं इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये और उनका कथन मशहूर है कि भारत बिना इतिहास का एक देश है - अर्थात, उसके पास ऐसी क्षमता नहीं है कि वह सोच-समझ कर 'इतिहास रच सके'| उसने कहा - 'ऐतिहासिक सत्य' नहीं, 'स्वप्न', ही भारतीय मनीषा की उपज और यही उनकी स्वाभाविक स्थितियां हैं|

इसके विपरीत, पश्चिमी भाव स्वाधीन है और वह इस स्वाधीनता पर अमल करता है| इसके कारण, पश्चिम ने पूरब को दबाया है, और इस लिए पूरब के प्रति उनका रुख स्वाभाविक रूप से एक मातहत जैसा है| पश्चिम को भारत का अध्ययन कर याद रखना है कि, उसे किन-किन चीजों से परहेज़ करना है और उसे क्या कुछ छोड़ना है - वह कतई नहीं जो उसे भारत से अपनाना है| वह सुझाव देता है कि, भारतीय परलोक-वादी अनंत में खोये हुए हैं और वे 'सीमित तथा विशेष' की सही प्रकृति (the nature of the 'finite and the particular') की खोज अभी तक नहीं कर पाए हैं| ऐसा समाज दमनात्मक होता है जो मजहबी उन्माद एवं उन्मुक्त विषय-भोग के बीच झूलता रहता है| इस लिए, भारत अपने बचपन में फंसा हुआ है, विकास में अवरुद्ध है और अपने आप से परिपक्व होने में असमर्थ है| मोक्ष, उसके विचार में, एक काल्पनिक एवं नकारात्मक मुक्ति है| हेगल के अनुसार, उपनिवेश बनना भारत की एक अनिवार्य नियति है| भारत के विषय में अपने सब वक्तव्यों में, हेगल गर्व से अपने को 'यूरोपियन मिटटी का बेटा' कहता है|

जैसा कि भारतविद विल्हेल्म हल्बफास (१९४०-२०००) स्पष्ट करता है, 'हेगल को प्राचीन भारत की व्यवस्थित जटिलता एवं ऐतिहासक विविधता की कोई भी पर्याप्त जानकारी नहीं थी'| हेगल की समझ कि 'भारत गतिहीन एवं इतिहास-विहीन है', को कार्ल मार्क्स द्वारा जारी रक्खा गया, जिसने भारत के विषय में कहा था कि वह 'उत्पादन की ऐशियाई-प्रणाली' में फंसा हुआ है| भारतीय इतिहासकार रणजीत गुहा स्पष्ट करते हैं कि, किसके पास इतिहास एवं विचार-शक्ति है और किसके पास नहीं, जैसे पृथकतावादी विचारों के आधार पर ही, किस प्रकार औपनिवेशिक शासन भारत पर उचित ठहराया गया| भारत के प्रति इस प्रक्रिया के अपमानजनक एवं विनाशकारी प्रभाव को, किसी प्रकार भी कम नहीं आंका जा सकता|

' पश्चिमी स्वाधीनता ' के विचार का खंडन: हेगल लिखता है- 'भारत और चीन स्वाधीनता की संकल्पना के

सारभूत आत्म-भाव से बिलकुल विरत हैं...| भारतीय वैराग्य के सिद्धांत का लक्ष्य कामुकता, आकांक्षाओं, एवं सभी भौतिक सरोकारों के विषय में सकारात्मक नैतिक स्वाधीनता नहीं है, वरन चेतना की समाप्ति तो है ही एवं आध्यात्मिक, यहाँ तक कि भौतिक जीवन का भी शिथिलीकरण उसका उद्देश्य है'| स्वाधीनता के विषय में ऐसा विचार या यह शर्त हेगल के लिए निर्णायक है, जो पश्चिम का ईसाई होने से जुड़ा हुआ है| यह विडम्बना है कि भारत में हेगल, ईस्ट इंडिया कंपनी के दमनात्मक शासन को 'सभ्य राष्ट्रों की सही वीरता' एवं 'राज्य की सेवा हेतु बलिदान' के रूप में देखता है|

पश्चिम में व्यक्तिवाद की जो अवधारणा उभरी है वह अपेक्षाकृत हाल की बात है, यद्यपि प्राचीन शास्त्रीय एवं इब्राहिमी मजहबी सिद्धांतों से उसकी व्युत्पत्ति का दावा प्रायः, अब किया जाने लगा है| ईसाइयत में व्यक्तिगत स्वायत्तता के मूल विचार से संगती न रखने वाले कई पहलू हैं, जिनमें मजहब के स्थापित एवं सांप्रदायिक रीतियों-रिवाजों का अनुपालन करने की अनिवार्यता सम्मिलित है| इसके अलावा, यह धारणा कि, अंतिम समय (End Times) में (salvation) मुक्ति प्रदान करने में चर्च की ही अहम भूमिका होगी, व्यक्तिगत आध्यात्मिक स्वायत्तता में स्पष्ट रूप से ईसाइयत में एक बड़ी बाधा है| भारतीय धार्मिक परम्पराओं में इसके बिलकुल विपरीत, आतंरिक विज्ञान का विशेष महत्व है, जिसमें हर व्यक्ति को, बिना उस पर बाहर से, किसी थोपे गए शास्त्रीय सिद्धांत या मजहबी या राजनैतिक सत्ता के किसी प्रकार के व्यक्त अथवा अव्यक्त दबाव के, अपने ही मूल स्वभाव के अनुरूप अपनी इच्छा से समुचित साधना के मार्ग को स्वयं से चुन लेने की अनादि काल से अपार स्वायत्तता रही है|

जर्मन प्रभुत्व का जन्म: एक स्पष्ट 'पश्चिम की अवधारणा- idea of the West' ही इतिहास में हाल की बात है, जिसके पहले अँगरेज़, आयरिश, जर्मन, इतालवी, यूनानी एवं स्पेन-वासी, सब अपने को आपस में लड़ने-भिड़ने वाली विशिष्ट संस्कृतियां समझते थे, न कि एक समन्वित यूरोपीय सभ्यता के अंग के रूप में| हेगल यह भूल जाता है कि, शेष विश्व के परिप्रेक्ष्य में ही पश्चिम की अवधारणा संभव हुई है, जिस पर उसकी संरचना एवं उसका संपोषण निर्भर करते हैं| हम उसके काम में पृथक संस्कृतियों के समूह को, पश्चिम नाम की एक कृत्रिम एकता में बांधने का संघर्ष भी देखते हैं, जिसमें न केवल यूनानी, रोमन, एवं इजरायली ही थे, बल्कि फ़्रांसिसी, जर्मन, ब्रिटिश, स्पेन-वासी आदि भी थे| हेगल के अनुसार, वैसे तो पश्चिम शुद्ध है, लेकिन कुछ पश्चिमी लोग औरों से भी अधिक शुद्ध हैं| जर्मनी की नियति विशिष्ट है और ईसाइयत उसके मूल में है| '...जर्मन लोगों की नियति ईसाई सिद्धांत के संवाहक के रूप में है'| भारतीय सभ्यता के अलग-अलग हिस्सों को तोड़-मरोड़कर कर उन का हेगल के लिए, पश्चिमी वर्गों में पचाया जाना बिलकुल स्वाभाविक एवं अभीष्ट भी है| जैसा कि हेगल की मानसिकता को दिखाते हुए हल्बफास स्पष्ट करता है: '...यूरोपीय विचार को सभी विचारों की परम्पराओं की खोज-बीन के लिए सन्दर्भ एवं वर्गों की व्यवस्था जो करनी है'| इसी से स्पष्ट हो जाता है कि, तुलनात्मक दर्शन, तुलनात्मक मजहब, एवं निष्पक्ष अथवा भिन्न संस्कृतियों में परस्पर समझ पैदा करने के किसी भी प्रयास का हेगल क्यूँ विरोध किया करता था; बल्कि यही कहता रहता था कि यूरोपीय विचार की संरचना के अंतर्गत, अन्य सभी परम्पराएँ सम्मिलित हैं और वही पूरे ज्ञान के एकीकरण का एकमात्र साधन है| विश्व भाव की प्रगति के एक अंश को बढ़ावा देने के ही इस उद्देश्य को आगे ले चलने के लिए 'महान' पश्चिम में विश्वभर की अन्य 'हीन' संस्कृतियों के विलय हो जाने को, हेगल उचित मानता था|

हेगल की मृत्यु के बाद, उसकी इतिहास-विषयक यूरोप-केंद्रित व्याख्या को आर्यों की पहचान को विकसित करने की हद तक और आगे बढ़ाया गया| 'आर्य' शब्द परंपरागत भारतीय चलन में एक नैतिक या आध्यात्मिक गुण का द्योतक रहा है, किसी नस्ल का कभी नहीं, जैसा कि आरंभिक बौद्ध ग्रंथों में इस शब्द

का उपयोग बार-बार विशेष रूप से नैतिक एवं धार्मिक महत्व को इंगित करने वाला होने से विदित होता है| इसके परिणाम स्वरूप उदय होने वाले यूरोप में नात्सीवाद को और तत्कालीन ब्रिटिश उपनिवेश भारत में द्रविड़-वाद को, यदि ध्यान में रक्खा जाय तो इस सैद्धांतिक जालसाजी की जघन्यता को कमतर नहीं आंका जा सकता है|

भारत से युरोपीय मुठभेड़ के दौरान भारत समर्थक और भारत विरोधी शक्तियों दोनों के कार्यों का एक सारांश चित्र **विभिन्नता** के पृष्ठ ३५७ पर और (Being Different) के पृष्ठ ३२३ दिया गया है|

हेगल की विरासत एवं भारतीय सभ्यता : भारत, भारतीयता एवं भारतीय वस्तुओं के प्रति भूतकालीन उपेक्षा की भावना के मूल में हेगलवादी ये विचार रहे हैं कि, भारत के पास इतिहास नहीं है, और आज भी वे भारत के प्रति पश्चिमी दृष्टिकोण को सांचा प्रदान करते रहते हैं| कई भारतीय विश्वविद्यालयों के दर्शन-शास्त्र विभाग, हेगलवादी विचारों एवं उनसे व्युत्पन्न विषयों पर आधारित हैं| कई भारतीय बुद्धि जीवी, अभी भी लौर्ड मैकॉले की छाया में हैं, जिनके भारतीय संस्कृति के बारे में कुख्यात विचारों ने ब्रिटिश औपनिवेशिक मनोवृत्ति को कई पीढ़ियों तक एक सांचा प्रदान किया| उपनिवेशवादियों के प्रति, उन्हें इतिहास का भाव देने के लिए ऐसे भारतीय सदा आभारी रहते हैं, जिसके विषय में उन्हें यह विश्वास हो चुका है कि, यह उनके पास पश्चिमी शासन के पहले नहीं था| हेगल की विरासत ऐसी है कि, उसने पश्चिम को उसके अपने ही तथाकथित 'सार्वभौमिक' विचारों की संकीर्णता के प्रति अंधा बना दिया और इस प्रकार भारत-विषयक संवाद में जो गलत धारणाएँ बनतीं जा रहीं थीं, उनको संगठित स्वरुप दे दिया| लौकिक राज्य (secular state) में हेगल के परम सिद्धांत की उपलब्धि हेतु, तर्क-शक्ति (reason) के अग्रसर होने का यह प्रयाण-गीत है| अकादमीय दर्शन-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, सामाजिक नियमों एवं 'वैज्ञानिक' प्रक्रियाओं के समागम में, यूरोपीय प्रबोध के ये सब पूर्वाग्रह इस प्रकार सम्मिलित हो गए – जो सब ईसाई मत्शास्त्र के साथ साथ, विभिन्न साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक मूल्यों के द्वारा हांके गए थे| इन प्रभावों ने भारत-शास्त्र (Indology) में विधिवत प्रवेश किया, और आज ये सब दक्षिण-एशिया विषयक अध्ययनों पर छाये हुए हैं|

पाश्चात्य सार्वभौमिकता के प्रति सामान्य प्रतिक्रियाएँ : पाश्चात्य सार्वभौमिकता के दावों के प्रति प्रायः, तीन सामान्य प्रतिक्रियाएँ सामने आतीं हैं| एक मुख्यतः उन दावों के यहूदी-ईसाई आधार पर तथा एक और उनके दार्शनिक दावों के प्रति होता है| (क) पहली प्रतिक्रिया तो सार्वजनिक क्षेत्र से ही, धार्मिक संस्कृति को हटा कर धर्म-निरपेक्षता को स्थापित करने को, समाधान मानकर उसकी वकालत करती है| (ख) दूसरी प्रतिक्रिया सभी बृहद आख्यानों के, उत्तर-औपनिवेशिक विखंडन की वकालत करती है, जैसा लेखक द्वारा बताया गया है| (ग) तीसरी प्रतिक्रिया हीनता-जनित व्यग्रता से व्यथित होकर, पलायन की रहती है, जो सभी परम्पराओं को एक अथवा मामूली भिन्नताएँ लिए हुए मानने लग जाती है| ये तीनों दृष्टियां त्रुटिपूर्ण हैं और दुर्भाग्यवश इन्हें ही, जटिल समस्याग्रस्त रूप देकर वापस भारत को विधिवत निर्यात कर दिया गया है|

पश्चिमी धर्म-निरपेक्षता - ईसाइयत का छद्म रूप: धर्म-निरपेक्षता, पश्चिमी सार्वभौमिकता का एक नमूना भर है, जो पश्चिम की सभ्यता की कृत्रिम एकता का, एक हिस्सा बन चूका है| इतिहास के अंत में एक भौतिक आदर्श राज्य स्थापित करने के इब्राहिमी मसीहाई अभियान का मुकाबला, मजहब पर मार्क्स के हमले से किया गया| यहूदी-ईसाई रूप-रंग की पश्चिमी तथाकथित सार्वभौमिकता के परिणाम-स्वरुप उत्पन्न होने वाली यह धर्मनिरपेक्षता, अन्तर्निहित रूप से उसकी विशेषताएँ लिए हुए होगी ही और इसलिए वह, विश्व के विभिन्न मतों के प्रति निरपेक्ष हो ही नहीं सकती| ब्रह्माण्ड, मानवीय पहचान एवं भिन्नता की प्रकृति के विषय में, वह पश्चिमी पूर्व-धारणाओं तथा मूल्यों से पूर्णतया ग्रस्त है| धर्मनिरपेक्षता की पूरी अवधारणा स्वयं

उन समाजों से उत्पन्न हुई है और उन्हीं पर लागू भी होती है, जिनमें मजहब इतिहास-केंद्रित हैं, राजनैतिक प्रक्रिया में स्थापित हैं, विस्तारवादी हैं, और विज्ञान के प्रति उनमें असहजता है| यह एक गंभीर पश्चिमी समस्या का एक गंभीर पश्चिमी समाधान है| ये समस्याएँ भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नहीं हैं, क्यूंकि वे न तो इतिहास-केंद्रित हैं, न धर्मान्तरण में रत हैं, विस्तारवादी नहीं हैं, और न ही उन्हें वैज्ञानिक अविष्कारों से भय है| जो हो, इस समस्या के मूल तक धर्मनिरपेक्षता नहीं पहुँचती, केवल पश्चिमी विचारों को ही प्रस्तुत करती है|

यद्यपि अमरीकी उदारवाद आर्थिक एवं नस्ली समता को अंगीकार करता है, लेकिन व्यवहार में मजहबी उदारता हेतु उनकी सामान्य अपेक्षा, असली परस्पर सम्मान के स्थान पर केवल सहनशीलता भर है| सहनशीलता का विचार अब प्रचलित हो चला है, लेकिन जैसा कि अध्याय १ में बताया जा चूका है, सहनशीलता बड़प्पन की स्थिति से कृपा करने का भाव रखता है| ईसाई विशिष्टता एवं सच्ची उदारता के परस्पर अंतर्विरोध पर कभी भी खुले तौर पर चर्चा नहीं होती (और शायद गुप्त रूप से भी नहीं)| अमरीकी धर्मनिरपेक्ष-उदारवाद को अभी ज़मीन पर वास्तविक बहुलतावाद के स्तर तक पहुंचना बाकी है| ईसाई, तभी सच्चे उदारवादी हो सकते हैं जब वे अपनी विशिष्टता के दावों की असलियत को स्वीकारें और उन पर बात करने को भी राजी हो जांय, जो उन्हें केवल सहनशीलता तक ही सीमित कर देते हैं, और जब वे अन्य मतों को आदर तथा समर्थन तक देने को तय्यार हो जायेंगे|

लौकिक एवं मजहबी विश्व-दृष्टियों के विभेद ने अपने प्रतिष्टित आधुनिक स्वरूप को फ़्रांसिसी क्रांति के बाद से ही धारण किया था| रोमन कैथलिक चर्च का सम्बन्ध, स्पष्टतः उच्चवर्ग और मध्यवर्गीय-रूढ़िवाद से था, जबकि यह माना जाने था लगा कि 'स्वाधीनता, समता एवं भाई चारा' (liberty, equality and fraternity) जैसे मूल्य केवल विचार-शक्ति से ही उपज सकते हैं| ब्रिटिश साम्राज्य तथा रूसी राजतन्त्र समेत कई शक्तिशाली हुकूमतों के विरुद्ध उदारवादी बुद्धिजीवियों के द्वारा विचार-शक्ति, एक हथियार के रूप में प्रयोग की गई| कैथलिक-वाद तथा पूरे यूरोप एवं अमरीकाओं में धर्मनिरपेक्ष राज्य-व्यवस्था के बीच, सुलह को चरितार्थ होने में कई पीढ़ियां लग गईं और फिर भी उनके द्वारा किसी प्रकार की निहित एकता अब तक प्राप्त नहीं की जा सकी है; बल्कि उसे चर्च तथा राज्य-व्यवस्था को अलग करके ही हासिल किया जा सका, वह था एक ऐसा सिद्धांत, जिसकी वकालत अमरीका के संस्थापकों (Founding Fathers) ने की| औपचारिक रूप से १९६० में वैटिकन द्वितीय (Vatican II) के बाद ही, कैथलिक चर्च ने इस अलगाव को सिद्धांत रूप से माना|

यूरोप के सबसे महान एवं प्रभावशाली विचारक, डार्विन, मार्क्स एवं फ्रौयड, पूरी तरह से धर्मनिरपेक्षवादी माने जाते थे, जिस दौरान ईसाई मत्शास्त्र की बौद्धिक प्रतिष्ठा धीरे-धीरे गिरती जा रही थी| तब भी ईसाइयत कहीं गई नहीं; वह फिर से उग्र रूढ़िवादी रूप में उभरने हेतु भूमिगत हो गई, और इस प्रकार के धर्मनिरपेक्ष राज्य व्यवस्था तथा दक्षिण-पंथी मतवादियों के बीच का सशंकित युद्धविराम, आज भी अमरीकी राजनीति को अस्थिर बनाये हुए है| विज्ञान/मजहब की द्वन्द-युक्त अस्थिरता को, बाइबिल पर आधारित मिथक या अन्धविश्वासों के धर्मनिरपेक्षता से विचित्र मेल द्वारा, विज्ञान एवं दर्शन दोनों क्षेत्रों में पश्चिम के कई धर्मनिरपेक्ष कहे जाने वाले नामी चिंतकों के कामों में दिखाया जाता है| उदाहरण के लिए, फ्रांसिस बेकन, जिन्हें आधुनिक पश्चिमी विज्ञान का मसीहा माना गया था, यह चाहता था 'कि आदम के, प्रकृति तथा उसकी शक्ति के ज्ञान के साथ पवित्र एवं पापरहित संपर्क की अवस्था की ओर लौटा जाय..., एक ऐसी प्रगति जो वापस पतन से पूर्व के आदम की ओर ले जाय'| आइज़क न्यूटन, सहस्राब्दी (millennium) में गहरा और उत्साहपूर्वक विश्वास रखता था, और इस प्रकार अधिकांशतः अपना समय बाइबिल आधारित भविष्यवाणीयों का अर्थ निकालने में बिताता था| थोमस हौब्स की 'प्रकृति की अवस्था', जौन कैल्विन के 'प्राकृतिक मानव'

का बिना-इश्वर का उल्लेख किये हुए धर्मनिरपेक्ष संस्करण है, और हौब्स के लेवायथन में बाइबिल का उल्लेख ६५७ बार किया गया है, और उसके अन्य बड़ी राजनैतिक कृतियों में भी इसी प्रकार की प्रवृतियां दिखाई पड़ती हैं| मार्क्सवाद ने भी, मजहब की आलोचना करने में पश्चिम के आधारभूत संरचनाओं एवं बृहद-आख्यानों को ही अपनाया, और ये सब तथाकथित धर्मनिरपेक्ष-विश्व-दृष्टि की अघोषित अवधारणाएँ बन गईं|

भारतीय छद्म - धर्मनिरपेक्षता : मजहबी हिंसा का मुकाबला करने हेतु एक साधन के रूप में धर्मनिरपेक्षता का एक और संस्करण पश्चिमी शिक्षा पाए हुए भारतीय (एवं प्रायः पश्चिम द्वारा प्रायोजित) विशिष्ट वर्ग के लोग प्रस्तुत किया करते हैं| भारत में साम्प्रदायिकता का मुकाबला करने हेतु धर्मनिरपेक्षता को प्रतिष्ठित किया गया, जब कि यूरोप में चर्च के संस्थागत-प्रतिष्ठान के विरोध में धर्मनिरपेक्षता को स्वीकारा गया था| भारत की आज़ादी के बाद, गाँधी के विकेन्द्रित परंपरागत समाज के स्वप्न के स्थान पर नेहरु-वादी समाजवाद को अपनाया गया, जिसने अपने को इंग्लॅण्ड तथा सोवियत संघ के नमूने पर ढाला| १९७७ में, प्रधान मंत्री इंदिरा गाँधी ने भारत के संविधान में एक संशोधन किया जिसके द्वारा धर्मनिरपेक्ष शब्द औपचारिक रूप से पहली बार संविधान की भूमिका (Preamble) में प्रतिष्ठित किया गया| दिवंगत लक्ष्मी मल सिंघ्वी का कहना था कि 'सेक्युलर' शब्द का सही अनुवाद 'पंथनिरपेक्ष' होना चाहिए, न कि 'धर्मनिरपेक्ष' जैसा कि अधिकारिक रूप से तब किया गया था| विपरीत-अर्थ वाले ये दो संस्कृत शब्द जिनका अंग्रेजी में अनुवाद नहीं हो सकता, भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण की बहुलतावादी प्रकृति को समझने हेतु विशेष महत्व रखते हैं| निरपेक्षता का अर्थ होता है - उदासीनता, जबकि सापेक्षता का शाब्दिक अर्थ होता है 'आदान-प्रदान की अपेक्षा एवं वह भी परस्पर सम्मान के साथ', जिसे कि 'सापेक्ष-धर्म' के रूप में 'सकारात्मक पंथ-निरपेक्षता' कहा जा एकता है, जो इस भाव को ठीक से व्यक्त कर सकेगा|

भारतीय धर्म को भारत के सन्दर्भ में सार्वजनिक क्षेत्र से हटा देने का अर्थ है, उसी भारत के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक श्रोतों से उनकी उर्बरा शक्ति को अलग कर देना, जबकि उसमें किसी को औपचारिक रूप से सदस्य बनाने की आवश्यकता नहीं होती है अथवा ईसाई अर्थों में किसी खास संप्रदाय की शपथ लेने की उसमें व्यवस्था नहीं है| धर्मनिरपेक्ष समाज – अथवा एक समाज जिसमें धर्म का कोई स्थान नहीं है, वह नैतिकता के प्रति किस प्रकार खतरनाक तरीके से विमुख हो जायेगा, इसे समझने में धर्मनिरपेक्षित (secularized) भारतीय पूरी तरह से असफल रहे हैं| एक धार्मिक समाज में इस प्रकार से, आंख-मूद कर धर्मनिरपेक्षता को आयात करने का परिणाम कई तरह से विनाशकारी रहा है| भारतीय धर्मनिरपेक्षता ने समाज में भिन्नताओं को तनाव एवं समस्याओं का श्रोत मानकर, उन भिन्नताओं को कम करने का भरसक प्रयास किया, लेकिन ऐसे हस्तक्षेपों का प्रभाव कई बार इसका बिलकुल उल्टा ही हुआ है और कुछ मजहबी पहचानें अपनी विशिष्टता को तथा स्वयं को पचने से बचाने हेतु, उनके कारण और भी हठी हुई हैं|

उत्तर-औपनिवेशिक समीक्षा : उत्तर-उपनिवेशवादियों (post-colonialists) ने जाक दरीदा जैसे अपने उत्तर-आधुनिक (post-modernists) साथियों के पद-चिन्हों पर चल कर हाल के वर्षों में, पश्चिम की दार्शनिक सार्वभौमिकता को विखंडित करने के कई प्रयास किये हैं| उनके प्रयास, हालाँकि, सामान्यतः शून्यवाद में समाप्त होते हैं, क्यूंकि वे पवित्र तथा लौकिक (sacred and secular) के परस्पर विरोधाभास जैसी मौलिक अवधारणाओं से या तो हटना नहीं चाहते या हट नहीं सकते| बृहद-आख्यानों का विखंडन करने में उत्तर-आधुनिकतावाद यह भूल ही गया है कि वह आंख मूदकर धर्मनिरपेक्षता के बृहद-आख्यान पर ही टिका हुआ है| उत्तर-आधुनिक दार्शनिक, हालाँकि, पवित्र/लौकिक के विरोधाभास पर आजकल कुछ नरम पड़े हैं, वे अपने को (कुछ बड़े अपवादों को छोड़ कर) भारतीय धार्मिक दर्शनों एवं संप्रदायों के दृष्टिकोणों को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं ला पाए हैं, जिन्होंने धर्मनिरपेक्षता में डूबे हुए पाश्चात्य दर्शन की कई विडंबनाओं को

सुलझाया है| ऐसा इसलिए है, क्यूंकि वे ठीक उस बिंदु पर पहुँच कर रुक जाते हैं, जहाँ से उन्हें पश्चिमी ब्रह्माण्ड विज्ञान को मूल रूप से त्यागना होगा| उदाहरण के लिए, उत्तर-आधुनिक दर्शन एवं उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययनों में उत्तर-औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा, हेगल की परियोजना का पूर्ण रूप से विखंडन कर दिया गया है, जो पश्चिम के आलोचक के रूप में अपनी विश्वसनीयता स्थापित करने हेतु अपनी भारतीय पहचान को कबूलने में कभी नहीं हिचकते, और वह भी प्रायः यह भली भांति समझकर कि राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से इसका क्या महत्व है| वास्तव में असली समस्या यह है कि इस प्रकार का विखंडनकारी तथा प्रगतिशील कहे जाने वाला विश्लेषण भी, उन्हीं पश्चिमी परम्पराओं की शर्तों और चौखटों के अंतर्गत किया जाता है, जहाँ से समस्या मूल रूप से शुरू होती है| जैसा कि हम देख चुके हैं, उत्तर-आधुनिक समीक्षा प्रायः, शून्यवाद में समाप्त हो जाया करती है, क्यूंकि वह सकारात्मक दार्शनिक चिंतन करने में बिलकुल असमर्थ है| फिर भी, इन दार्शनिकों में से कुछ विद्वानों के द्वारा अब यह तो समझा जाने ही लगा है कि भारतीय धार्मिक दर्शनों की परिष्कृत एवं संवादात्मक शैली एवं स्वभाव में, ऐसी प्रबल उर्बर क्षमता है जो स्पष्टतया जटिल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं, और इनमें से कईयों ने इस क्षमता का लाभ लेना आरंभ भी कर दिया है|

इसके अलावा, यद्यपि ऐसा इरादा न होने पर भी, इन विखंडन-कारी समालोचनाओं का परिणाम प्रायः 'सदृश्यता' जैसा प्रत्युत्तर ही होता है - अंतर केवल यह है कि, यह आध्यात्मिक-सदृश्यता की तरह न होकर, उपेक्षा या बेपरवाही की एक अवस्था बन जाती है| दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, प्रधान संस्कृतियों के दार्शनिक बृहद-आख्यानों के इस प्रकार के विखंडन के बाद, उनका स्थान लेने हेतु कुछ बचता ही नहीं, जबकि ईमानदारी से संपन्न पूर्व-पक्ष के परिणाम-स्वरुप अध्यात्म एवं धर्म पर आधारित आत्मज्ञान की धार्मिक अवधारणाएँ सकारात्मक अस्तित्व की आधार -शिला प्रदान करेंगे, जिसे जानबूझकर शायद अब तक पश्चिम द्वारा कमतर आंकने के प्रयास किये गए हैं| इसके अलावा इनमें से कई भारतीय विद्वान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, पश्चिमी शैक्षिक एवं प्रकाशन संस्थानों-वित्तीय श्रोतों पर आश्रित एवं निर्भर रहते हैं| दूसरे शब्दों में, यह भली-भांति जानते हुए कि पश्चिम की कितनी आलोचना करना ठीक होगा, वे उसे नाप-तोल कर ही करने, अथवा अपने पश्चिमी आकाओं के इशारे पर उन्हीं के द्वारा रची गई आत्म-प्रवंचनाओं को ही प्रस्तुत करने हेतु, पश्चिम के लिए 'उपयोगी पालतू पशु' का काम करते रहते हैं|

लेखक इस बात से अनभिज्ञ हैं कि, उत्तर-आधुनिकवाद एवं उत्तर-उपनिवेशवाद के इन भारतीय विद्वानों में से किसी ने स्वयं उनके द्वारा पश्चिम की आलोचना, जो उन्होंने की है, का आधार बनाने हेतु कभी संस्कृत तथा भारतीय धार्मिक सिद्धांतों को पढ़ा भी हो| लेखक पहले विद्वान नहीं हैं, जिन्होंने इस समूह की आलोचना की है| रौनल्ड इंडेन लिखते हैं कि ऐसे विद्वानों ने भारतीय धर्म परम्पराओं के विषय में उपनिवेशवादियों की अवधारणाओं को अपने अवचेतन में स्थापित कर लिया है और अपने को नव-उपनिवेशवादी ही बना लिया है| एस.एन.बालगंगाधर आगे स्पष्ट करते हैं - '...लेकिन, ये भारतीय उत्तर-उपनिवेशवादी पश्चिम के रहने वाले न होने के कारण पश्चिम के बराबर नहीं बन सकते'| पश्चिम की धर्मनिरपेक्षता से प्रेरणा पाए हुए इन भारतीय उत्तर-उपनिवेशवादियों के ऐसे दृष्टिकोण के कारण ही, संस्कृत एवं स्थानीय भाषाओँ को भारत में गिराया गया है, क्यूंकि अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात्य साहित्य ही अब प्रगति के लिए आवश्यक रास्ते बन गए हैं| लेखक के कथनानुसार, पश्चिमियों के पद-चिन्हों पर चल कर, भारतीय धर्म परम्पराओं को कई भारतीय विद्वानों ने, 'कास्ट, काउ, एवं करी' (caste, cow and curry) के शीर्षकों की रूढियों में समेट कर स्थिर बना दिया है|

विभिन्नता के पृष्ठ ३६८ और 'Being Different' के पृष्ठ ३३४ की तालिका में औपनिवेशिक प्रभावों को

उलटने हेतु दो प्रकार की भारतीय आलोचनाएँ दी गई हैं, और दोनों ही अपनी अपनी तरह से त्रुटिपूर्ण हैं| रिक्त कोष्टक में उल्लिखित काम लेखक कर रहे हैं, जिसे और अधिक किया जाना अपेक्षित है|

सरलमति आध्यात्मिक सदृश्यता : पश्चिमी सार्वभौमिकता की समस्या पर एक और घटिया प्रतिक्रिया, सब संस्कृतियों एवं मजहबों में आधारभूत सदृश्यता मान लेने के इस दावे में है कि, इस से उनमें मधुर सम्बन्ध एवं यथार्थ एकता की भावना पैदा हो जायेगी| ऐसा सही भी हो सकता था यदि प्रश्नगत कुछ मजहब अपनी ही निहित विशिष्टता के दावों पर डटे न रहते, लेकिन वे ऐसा करते हैं| इस से बिना कहे, पश्चिमी विचारों और मूल्यों को सार्वभौमिक मान लिया जाता है| कई भारतीय गुरु एवं अन्य सांस्कृतिक प्रतिनिधि, सब संस्कृतियों एवं मजहबों में आधारभूत सदृश्यता के विचार को आगे बढ़ाने के जिम्मेदार हैं, क्यूंकि यह गलत सोच बन गई है कि आधारभूत सदृश्यता पर ही ध्यान केंद्रित रखना ठीक है (वह भी विशिष्टतः, पश्चिम की सार्वभौमिकता को सब पर लागू होने वाला ढांचा मान कर), और भिन्नताओं की चर्चा से परहेज़ किया जाय|

यह आज की एक बड़ी विडम्बना है कि लोगों की सोच में 'सामान्य या प्रजातिगत' ने 'विशेष या खास' का स्थान ले लिया है| इसके दो कारण हैं: भिन्नता के मुद्दों से 'सामान्य या प्रजातिगत' सोच कन्नी काट लेती है, एवं सामान्य वक्तव्यों की आड़ में अनाड़ीपन को छिपाया जा सकता है| सभ्यताओं के संघर्ष के विस्तार के दौरान 'धार्मिक भिन्नता' के आकार एवं अभिप्राय को समझने में हुई विफलता भी किसी हद तक, इस निर्णायक ग़लतफ़हमी के कारण हुई है| हम देख चुके कि 'सदृश्यता' के प्रति आकर्षण किस प्रकार, आत्मत्याग का एक खतरनाक रूप है जो विभिन्न संस्कृतियों में कमजोर संस्कृति को, आक्रामक बलवान संस्कृति द्वारा हड़प लिए जाने के लिए खुला छोड़ देती है| भारतीयों को जब भिन्नताओं का सामना करना होता है, तब प्रायः वे 'अनेकता में एकता' या बहुप्रचलित संस्कृत पद - 'वसुधैव कुटुम्बकम' (अर्थात 'सारा विश्व एक परिवार है') जैसे नारों का सहारा लेते पाए जाते हैं| यह याद रखने की बात है, कि परिवार की उपमा आतंरिक अनेकता के प्रति परस्पर सम्मान की भावना का द्योतक है, सदृश्यता का नहीं|

यह ध्यातव्य है कि आधुनिक भारतीय धार्मिक विद्वानों ने अन्य परम्पराओं के प्रति पूर्व-पक्ष की प्रक्रिया को संचालित करने हेतु सैद्धांतिक उपकरण विकसित नहीं किये - कम से कम पूर्व-पक्ष स्तर की प्रखरता का जो प्राचीन काल में भारत में प्रचलित था| यह कमजोरी भी भिन्नता के प्रति बेचैनी से जुड़ी हुई होने के ही कारण है| चालू प्रासंगिक-नैतिक स्वच्छंदता - गैर-जिम्मेदारी, पलायनवाद एवं अकुशलता बन गई है| एक ऐतिहासिक नियमावली का ना होना तथा बिना केन्द्रीय मजहबी सत्ता के, और उसके साथ साथ, केवल अध्यात्मविद्या के अनुभवी सिद्धों पर पूरी निर्भरता, हिंदू समाज की सुरक्षा हेतु कतई निष्प्रभावी सिद्ध हुई है, वह आज की दुनिया की परिस्थितियों के लिए तो, अति आदर्शवादी व्यवस्था प्रतीत होती है|

इन कमियों के कारण, पश्चिमी चेलों के मानस को समझने में भारतीय गुरु का ध्यान, उनकी पाश्चात्य पहचान या उन पर हावी अन्य ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों की ओर कम ही रहता है और वे केवल उनकी भावनात्मक एवं मानसिक अवस्थाओं तक ही अपनी सोच को सीमित रखते हैं| अधिकांश पश्चिमी लोगों को बचपन से ही उनकी सभ्यता के बारे में ऐसी शिक्षा दी जाती है, जैसे उनकी सभ्यता के पुरोधाओं का विवरण, उनकी विशिष्ट नियति, एवं विश्व में उनका विशिष्ट स्थान, जो सब, अल्पावधि में गुरु से संपर्क के दौरान ओझल या कमतर आंके जाने लग जाते हैं, लेकिन जिनके कारण दीर्घकालीन अवधि में कई गलतफहमियां प्रायः पैदा हो जातीं हैं| (इन प्रवृत्तियों के विषय में विचार करना भी गुरु का ही दायित्व है|)

निष्कर्ष – पूर्वपक्ष एवं भविष्य की राह

पूर्वपक्ष एवं सापेक्ष धर्म : पिछले अध्यायों में पश्चिम तथा भारत के बीच, परस्पर कुछ प्रमुख भिन्नताओं पर प्रकाश डाला गया है| लेखक ने यह तर्क दिया है कि ये भिन्नताएँ व्यवस्थित पूर्वपक्ष की प्रक्रिया के माध्यम से अथवा परस्पर सीधे संवाद से ही उजागर हो सकतीं हैं| प्रश्न है: सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास की दिशा में, आज परस्पर सौहार्दपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने में पूर्वपक्ष किस प्रकार योगदान दे सकता है और यह किस आधार पर निष्पक्षता एवं प्रभाव पूर्ण तरीके से संचालित हो सकता है?

परस्पर सीधे संवाद का जोखिम उठाने के लिए महत्वपूर्ण मुद्दों की गहरी समझ आवश्यक है| हमारे ज़माने के इस कुरुक्षेत्र में, अर्जुन (स्वयं लेखक) केवल अपने पक्ष के लिये ही नहीं, बल्कि न्याय एवं ब्रह्माण्ड में व्यापक ऋतम-आधारित धर्म की स्थापना हेतु लड़ रहा है| अर्जुन को इस युद्ध में कूदने की प्रेरणा उसे, उसके सामाजिक दायित्व के निर्वहन हेतु विशिष्ट स्वधर्म के रूप में एवं उसके स्वभाव से मिली है| दूसरे शब्दों में, इस प्रकार युद्धरत होना उसका कर्तव्य है, जो कि भिन्न प्रवृत्ति के किसी अन्य व्यक्ति के लिये संभवतः, उसी प्रकार न भी हो| प्रभावकारी पूर्वपक्ष की व्यवस्था के लिए संवाद हेतु कुछ अनिवार्यताएँ एवं नियम यहाँ निम्न प्रकार से प्रस्तुत किये जा रहे हैं:-

१. इसे आपसी सहमति से निर्धारित शास्त्रार्थ के नियमों, समय एवं स्थान के साथ सभी को समान अवसर दिए जाने की शर्त सहित करना होगा;

२. प्रतिभागियों का लक्ष्य एक-दूसरे का धर्म-परिवर्तन करना न होकर, सत्य की खोज करने में परस्पर सहयोग करना होगा, बिना मौलिक भिन्नताओं को चिकनी-चुपड़ी भाषा में दबाए;

३. इस तरह के 'प्रतीकात्मक द्वन्द' का परिणाम शायद, सदैव अहंकार की तुष्टि हेतु किसी पक्ष की 'विजय' के रूप में नहीं हो सकता;

४. वैचारिक द्वन्द में उतरने से पहले अध्यात्म-विद्या के गहन अभ्यास के द्वारा, अहम पर प्रारंभिक नियंत्रण प्राप्त करना आवश्यक होगा; एवं,

५. स्वयं को आध्यात्मिक रूप से प्रामाणिक सिद्ध करने के अलावा, धर्म-रक्षकों को विरोधियों और उनकी परम्पराओं एवं मत-शास्त्रों की गहरी जानकारी होना आवश्यक है| इसी प्रकार, पाश्चात्य मतों के प्रतिनिधियों को, खुले दिमाग से धर्म को उनकी परंपरा एवं विश्व-दृष्टि के सापेक्ष, एक गंभीर विकल्प के रूप में मान्यता दिए जाने की संभावना को स्वीकार करना होगा|

यह पुस्तक इस प्रकार के कार्य को संपन्न करने हेतु, तय्यारी के लिए एक आधार प्रस्तुत करती है| संभवतः, ऐसे शास्त्रार्थ के लिए उपयुक्त सार्वजनिक ढांचा अध्याय ६ में चर्चित सापेक्ष-धर्म है, जिसका शाब्दिक अर्थ है - 'परस्पर सम्मान पूर्वक आदान-प्रदान' की भावना सहित संवाद| इसका अर्थ है, परस्पर सम्मान की सीमा तक अनेकता में एकता, और यहाँ तक भी, कि केवल सहनशीलता या बड़प्पन बघारते हुए उपेक्षा के भाव के स्थान पर 'सकारात्मक बहुलतावाद' को प्रोत्साहित करते हुए, परस्पर निर्भरता पैदा करना| सापेक्षता, विविध प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं को सक्रिय समर्थन देने का एक सिद्धांत है| धर्म-सापेक्षता ही प्राचीन भारतीय राज्य के बहुलता-युक्त चरित्र की विशेषता रही थी| इसलिए, भारत में धर्म निरपेक्ष समाज व्यवस्था पर हो रही गरमा-गरम बहस में यह पुस्तक, कई मायनों में एक योगदान भी है|

सापेक्ष-धर्म हिंदू धर्म में निष्ठा की मांग नहीं करता| ना ही वह अपने सरोकारों को परंपरागत हिंदुओं तक ही

सीमित करता है| जाति-धर्म की संकल्पना प्रत्येक जाति के पृथक धर्म को आदर देने की बात मानकर चलती है; इसलिए, सापेक्ष-धर्म व्यवस्था में, एक मुस्लिम-जाति अपने आतंरिक मामलों में, जाति-धर्म के रूप में शरिया को अपना सकती है| लेखक पश्चिमी धर्म-निरपेक्षता के विकल्प के रूप में सापेक्ष-धर्म व्यवस्था का सुझाव देते हैं, जिसे - किसी भी पंथ को (संप्रदाय या मजहब को) दूसरे के मुकाबले प्राथमिकता नहीं देने को, अर्थात, पंथ-निरपेक्षता के नाम से उसे व्यक्त किया जा सकता है| अपने मूल स्वभाव के अनुरूप, सापेक्ष-धर्म विभिन्न समुदायों में विविधता के प्रति संवेदनशील होगा| यह भी है, कि धर्म पर कोई अंतिम दृष्टि नहीं हो सकती, जो कि सदा विकसित होने एवं आत्मसात करने वाली एक खुली संरचना के समान है| इन शर्तों पर-पूर्वपक्ष, किसी वाद-विवाद को तय करने या एकता पर डटे रहने हेतु एक साधन नहीं है, वरन सभ्यताओं में चल रहे संघर्षों के दौरान, क्षण-प्रतिक्षण एकता के भाव को, उसे भूलते जाने को, अलग-थलग हो जाने को तथा पुनः पैदा होने देने हेतु, उभरने देना है|

अपेक्षित पश्चिमी प्रतिक्रियाएँ : तीन प्रकार की पश्चिमी प्रतिक्रियाएँ हो सकतीं हैं -
(१) कट्टर-पंथियों की कट्टरता बढ़ना; (२) इतिहास-केन्द्रिकता की सीमा के अंदर रहते हुए उदारता; एवं (३) भारतीय धर्म के प्रति गंभीर जिज्ञासा| आगे बढ़ने हेतु वर्ग (२) तथा (३) से सतत संवाद एवं सहयोग, स्पष्ट रूप से वांछित होगा|

भारतीय धर्म के वर्तमान गुरुओं को चुनौती : पूर्वपक्ष को सञ्चालित करने की प्रक्रिया, केवल पश्चिमी लोगों के ही लिए चुनौती नहीं है| धर्म गुरुओं को भी इसके प्रति सच्ची एवं खुली निष्ठा होनी चाहिए तथा उन्हें इसमें प्रशिक्षित करने की भी आवश्यकता है| अठारहवीं एवं उन्नीसवीं सदियों में, उपनिवेशीकरण की क्रमिक लहरों का सामना करने में, धर्म के नेतृत्व ने या तो इस से हाथ खींच लिया था अथवा पश्चिमी प्रतिमानों को अंगीकार कर लिया| उपनिवेशवादियों ने संस्कृत और उसके वांग्मय को सीखने के व्यापक प्रयास किये, यद्यपि वह उनके स्वयं के ही उद्देश्यों के लिए था| पादरियों के शिक्षा संस्थानों के मुकाबले, भारत में धार्मिक संस्थानों का कोई विकास नहीं हुआ है; न यहाँ कभी कोई मंच ही बनाया गया है, जहाँ विश्व के मजहबों के तुलनात्मक अध्ययन की गंभीर व्यवस्था होती, ताकि दुसरे मतों से शास्त्रार्थ करने हेतु भावी नेतृत्व को तय्यार किया जा सके|

समसामयिक धर्म गुरुओं एवं आचार्यों में भी पश्चिम का गंभीर अध्ययन करने के प्रति उपेक्षा पाई गई है| उनका अज्ञान एवं अयोग्यता, उनके अहंकार एवं पाखंड के पीछे छिप जाते हैं| इसके अतिरिक्त, भारत की आज़ादी के बाद, पश्चिमी प्रेरणा से अपनाई गई उसकी धर्म-निरपेक्षता की नीति ने भारत के विश्व-विद्यालयों को, औपचारिक मानविकी शिक्षण के अंतर्गत धार्मिक एवं मजहबी अध्ययनों की व्यवस्था किये जाने से रोक दिया था| धर्म और मजहब पर शिक्षण, सामाजिक विज्ञानों के अंतर्गत मुख्यतः, अब मार्क्सवादी प्रकृति का है, अर्थात, वह धर्म और मजहब के विषय में जो विचार घोषित करता है वह है, इस प्रकार है कि यह पिछड़ेपन की एक बड़ी समस्या है जिसे आर्थिक प्रगति लाकर ठीक किया जाना है|

चूँकि अधिकांश गुरुओं को अनुभव-सिद्ध ज्ञान के प्रति, पश्चिमी तिरस्कार के गहरे इतिहास की समझ नहीं है, उनके बहुसंख्यक शिष्य (प्रारंभिक रूमानी आकर्षण के बाद) एका-इक उन्हें छोड़ कर चले जाते हैं अथवा उनकी साधना फीकी पड़ जाती है| ये तथा पश्चिम से धर्म की मुठभेड़ों से होने वाली अन्य समस्याओं के

विवरण, यू-टर्न थिओरी के प्रसंगों (उल्टा घूमने) पर लेखक की आगामी पुस्तक में होंगे| पूर्व और पश्चिम, दोनों पर पूर्व-पक्ष की प्रक्रिया का क्या प्रभाव होगा, इस पर कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता, और सभी संभावनाओं के लिए तय्यार रहना चाहिए| इस बात की तत्काल आवश्यकता है कि दोनों में जो भिन्नता है उसको पहचाना जाय, और इस भिन्नता के प्रति सम्मान के महत्व को भी समझा जाय|

गाँधी का स्वधर्म एवं पूर्व-पक्ष: लेखक अपनी पुस्तक के अंत में महात्मा गाँधी की तरफ मुड़ते हैं, जिन्होंने अपनी धार्मिक भिन्नताओं को, बिना हिंसा अथवा उग्र-राष्ट्रीयता के, हठ पूर्वक मजबूती से समझाने के दुस्साहस का सर्वोत्कृष्ट, जीवंत उदाहरण प्रस्तुत किया| उनकी छोटी सी पुस्तक 'हिंद स्वराज', जो सौ साल पहले प्रकाशित हुई थी, ब्रिटिश साम्राज्य की दिशा में उनके द्वारा नियोजित पूर्व-पक्ष का एक उत्कृष्ट उदाहरण है| यह पुस्तक उनकी प्रारंभिक रचनाओं में से एक है, और यह उपनिवेशवाद की समस्या के विषय में जानकारी प्रसारित करने हेतु, आज भी एक मार्ग-दर्शक का कार्य करती है| उन समस्याओं ने अब नए-नए रूप धारण कर लिए हैं, और बहुत से उत्कृष्ट साहित्य की तरह, हिंद स्वराज ने अब फिर से, एक नयी प्रासंगिकता प्राप्त कर ली है|

अन्याय से जूझने एवं सम्वहनीयता-विषयक (sustainability) गाँधी के आदर्श को आगे बढ़ाने हेतु, सत्याग्रह के साथ अहिंसा को जोड़ा गया| उन्होंने ज़मीनी यथार्थ से उभरने वाली सामाजिक सक्रियता को प्रोत्साहित किया, ताकि लोग उस परिवर्तन को अंगीकार करें जिसे वे स्वयं दुनियां में देखना चाहते हैं| उन्होने एक शाकाहारी समाज की वकालत की, जो पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण से मांसाहारी समाज के मुकाबले अधिक टिकाऊ है| व्यापक दृष्टि से अहिंसा का सिद्धांत संस्कृतियों पर भी लागू होता है| संस्कृतियों का विनाश एक महत्वपूर्ण प्रकार की हिंसा है जिसे प्रायः अहिंसा पर होने वाली प्रतीकात्मक चर्चाओं में कबूला नहीं जाता| लोगों की समूहिक चेतना की अवधारणाओं को छीन लेना, उनकी संस्कृति को पचाए जाने की भूमिका होती है और यह उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग भी है| 'विकास' के नाम पर ऐसी हिंसा आज खूब चलती है, जिसे आंकने का मापदंड पाश्चात्यीकरण में सफलता है| मानवाधिकारों पर संवाद भी, जिसे 'वैश्विक' कहा जाता है, वह वास्तव में सांस्कृतिक जातिसंहार है और इसलिए गाँधी के अर्थ में वह हिंसा है|

गाँधी उपनिवेशवाद के इस स्वरुप से भी उसी प्रकार लड़े, जैसे उसकी भौतिक एवं राजनैतिक अभिव्यक्ति से लड़े थे| यद्यपि वे ईसाइयत के खिलाफ नहीं थे (और वास्तव में अक्सर ईसा के उद्धरण दिया करते थे), वे भारत में ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध थे| वह कहते थे कि, उन्हें केवल निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिए और धर्म परिवर्तन नहीं| यदि वे कोई स्कूल या हस्पताल चलाना चाहें या गरीबों को भोजन कराना चाहें, ये सब धर्म-परिवर्तन के साधन नहीं बनने चाहिए| ऐसी ही सोच के साथ गायत्री चक्रवोरती स्पिवाक ने दलील दी कि, मानव अधिकारों को न केवल सुलभ किया जाना है, वरन यह भी विचारणीय है कि, कि इन अधिकारों को कौन सुनिश्चित करने और कौन नहीं करने वाला है| मानव अधिकारों को सुलभ करने की पश्चिमी विधियाँ, ऊपर से नीचे की ओ़र क्रियाशील एक केन्द्रीय सत्ता-तंत्र द्वारा संचालित होतीं हैं, जिसमें शक्तिसंपन्न प्रतिनिधियों (राजनैतिक कार्यकर्त्ता, अनुदान बाँटने वाले कार्मिक तथा ऐसे स्वयं-सेवी संगठन जिनकी पहुँच वैश्विक-संचार माध्यमों एवं अनुदान के श्रोतों तक है) को ही वह हैसियत और ज़िम्मेदारी सौंपी जाती है कि वे मानवाधिकारों को लागू करें| ऐसा शक्ति-तंत्र स्वयं सत्याग्रह कर, स्थानीय लोगों द्वारा यह काम किये जाने के, गाँधी के आदर्श से बेमेल है|

गाँधी मानते थे कि सांस्कृतिक भिन्नताएँ मिटाये जाने के बजाय अभिनंदित होनीं चाहियें| यह एक पुरातन हिंदू विचार है| विविधता ब्रह्माण्ड की सृष्टि का आधार है| वास्तव में अंग्रेजी शब्द 'यूनि-वर्स' का अर्थ – 'एक में बहुत' होता है| भिन्नता से उत्पन्न व्यग्रता से गाँधी बिलकुल, अद्भुत रूप से मुक्त थे| गाँधी ने स्पष्ट किया था कि संस्कृत शब्द 'स्वराज' का अर्थ केवल राजनैतिक आज़ादी नहीं है; बल्कि, कई प्रकार की स्वाधीनताएँ, इस शब्द के तात्पर्य होते हैं| 'करने की स्वाधीनता' और 'दुर्गुणों से स्वाधीनता' में बहुत बड़ा अंतर है| पहली प्रकार की स्वाधीनता 'यह करने - वह न करने' की स्वाधीनता है - वह बहिर्मुखी है; उसका तात्पर्य क्रोध, वासना, इर्ष्या, आदतों एवं मजबूरियों जैसी आतंरिक कमियों से - 'दुर्गुणों से स्वाधीनता' नहीं - जो कि हमारे अंदर की अवस्था के द्योतक हैं| उसका वास्तविक अर्थ अहंकार से स्वाधीन होना है, मुक्त होना है|

गाँधी ने एक और अनुवादेतर शब्द प्रयोग किया, 'स्वदेशी', अर्थात, 'स्थानीय भूमि से', किसी स्थानीय उत्पाद को वरीयता, जो आज पश्चिम में भी प्रचलित हो चला है 'स्थानीय माल खरीदो' आन्दोलन के रूप में| गाँधी के स्वदेशी के विचार में, लंबी दूरी पर भारवाहन में होने वाले लंबे व्यय का विरोध सम्मिलित है और इसलिए स्थानीय उत्पाद को वरीयता देना एवं मौसमी वनस्पति एवं फलों का सेवन करने को प्रोत्साहित करना, वांछित है| स्वदेशी का अभिप्राय है स्थानीय खाद्य पदार्थ को खाना, कपड़े पहिनना, और, यथाशक्ति, स्थानीय रूप से उत्पादित माल खरीदना| अन्य विचारों के साथ ये, गाँधी के राजनैतिक विचार बने| उन्होंने भारतीय समाज को एक ऐसा समाज बनाने की वकालत की थी जो स्थानीय 'पंचायत' से शासित हो, जो कि भारत में ग्राम-स्तर से ऊपरी स्तरों को शासित करने वाली प्राचीन परंपरागत विकेन्द्रीय प्रशासन व्यवस्था से चली आ रही थी| यह विचार सीधे ही ब्रिटिश प्रशासन से टकराता था| उन्हें सदा इस बात की चिंता थी कि भारतीय आगे चल कर भूरे रंग के अँगरेज़ बन जायेंगे (जो दुर्भाग्यवश अधिकतर हुआ भी)|

दुर्भाग्य से, गाँधी की मृत्यु के बाद, समाज में संवाद के वर्गों को नियंत्रित करने के उनके आग्रह को, भारत में भुला दिया गया| लेखक ने एक दशक अवधि के दौरान, अपनी रचनात्मकता के समुद्र-मंथन में गाँधी से ही मुख्य रूप से प्रेरणा प्राप्त की है| इस पुस्तक में इंगित कई मार्के के बिंदुओं पर उनके जीवन से प्रकाश पड़ता है| उनके द्वारा किया गया पश्चिम का पूर्व-पक्ष, चुनौतीपूर्ण और दुस्साहस से भरा था; भारत में चल रही अंतर्सभ्यता मुठभेड़ को, उन्होंने अपना कुरुक्षेत्र माना जिसमें उन्होंने अपना स्वधर्म निभाया; उनके द्वारा किया गया अनुवादेतर संस्कृत शब्दों का प्रयोग, उनकी संस्कृति के चारों ओर चल रहे संवाद को नियंत्रित करने की एक कुशल रण-नीति थी; और उनकी जीवन-पद्यति दर्शाता था कि किस प्रकार भिन्नता का आग्रह सकारात्मक रूप से, प्रतिद्वंदी के प्रति आदर के साथ साथ भी दर्शाया जा सकता है| कई बार, जो आदर उन्होंने अन्यों को दिया, वह उन्हें नहीं मिला, पर गाँधी ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया, उसे जिया भी, यह महत्वपूर्ण है|

परिशिष्ट क
धर्म की अन्तर्निहित एकता

भारतीय धर्मों के विभिन्न संप्रदायों के बीच परस्पर शास्त्रार्थ संपन्न करने का एक निरंतर इतिहास है, और इनके लिखित प्रमाण एवं उनके विश्लेषण कई खण्डों में संकलित किये गए हैं| लेखक इन संप्रदायों की परम्पराओं के बीच निरंतर संबंधों एवं मेल को चिन्हांकित करना चाहते हैं जो धार्मिक संप्रदायों के विस्तृत चिंतन क्षेत्र में व्याप्त 'धर्म की अन्तर्निहित एकता' को अभिव्यक्त करता है| इन धार्मिक परम्पराओं की एकता को प्राचीन काल से ही वेदों में व्यक्त किया गया है, लेकिन केवल वेदों को मानने वाले संप्रदायों तक ही यह अन्तर्निहित एकता सीमित नहीं है| विभिन्न संप्रदायों में इस प्रकार की घनिष्टता एक ऐसी विविधता है, जो उनमें अन्तर्निहित एकता से उपजती है| लेखक के प्रयास के पीछे उनका उद्देश्य यह है कि, पश्चिम की 'कृत्रिम एकता' की पृष्ठभूमि में भारतीय धर्म के अद्वितीय एवं मूल विचारों को उजागर किया जाय| भारतीय धर्मों में सम्मिलित विविध धर्मों एवं संप्रदायों में से जो वेदों को नहीं मानते वे हैं - बौद्ध, जैन, चर्वाक एवं लोकायत (बाद के दो सम्प्रदाय भौतिकवादी हैं)|

हिंदू धर्म के अंतर्गत - ' इश्वर-ब्रह्माण्ड-मानव ' में अभिन्न एकता : वेदांत को मानने वाले सभी सम्प्रदाय 'ऐकमेवाद्वितीयम' के सूत्र में आस्था रखते हैं – अर्थात परम यथार्थ एक ही है जो परम चेतना है, जिस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है| आदि शंकर (सन ७८८-८२०) ने इस परम यथार्थ को ब्रह्म बताया, जिस तत्व से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई| अद्वैत वेदांत के कारणत्व या कारण-कार्य-सम्बन्ध के सिद्धांत में, जगत ब्रह्म में अध्यासित प्रतीत होता है, जो कि माया - ब्रह्म की रहस्यमयी शक्ति के कारण एक संज्ञानात्मक त्रुटि है, और जो यथार्थ में स्वयं के अलावा कभी भी और कुछ नहीं रहा है| ब्रह्म (द्वैत नहीं) अद्वैत है, निर्विशेष (एक समान) है, और मूलभूत रूप से (बिना गुण के) निर्गुण या (बिना गुणवाचक शब्द के) उपाधिरहित है| ब्रह्म की उपमा, मकड़ी जो बिना किसी बाहरी सहायता के, अपने ही अंदर से अपना जाला स्वयं निकालती रहती है, से दी जाती है, और ब्रह्म इस प्रकार ब्रह्माण्ड का अभिन्न, दोनों, निमित्त एवं उपादान कारण है| ब्रह्म, ब्रह्माण्ड का ऐसा कारण है जो तात्विक रूप से स्वयं परवर्तित हुए बिना, प्रभाव पैदा करता है|

वेदांत को मानने वाले संप्रदायों में जो भी भेद हैं, वे उनके अनुसार, जगत या भौतिक यथार्थ से परम यथार्थ का सम्बन्ध, किस प्रकार का है, के प्रति उनके भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर है, लेकिन उस परम यथार्थ की अन्तर्निहित एकता पर कोई प्रश्न-चिन्ह नहीं है| जो माया में लिप्त रहता है, उसके लिए दो सत्य हैं, जैसेः सापेक्ष/निरपेक्ष; निराकर समष्टि एवं साकार (आकार की विशिष्टताएँ); गुण-रहित समष्टि (निर्गुण) एवं सगुण| प्रत्येक में, जो सापेक्ष सत्य है, वह माया जनित है और इसलिए नश्वर, अपूर्ण, अंततः असत्, एवं दुःख का कारण है|

बाद में, रामानुज (सन १०५५-११३७) के विशिष्टाद्वैत (विभिन्नता लिए हुए अद्वैत) सम्प्रदाय ने शंकर-प्रतिपादित माया को, ब्रह्म से पृथकता की अनुभूति का कारण होने की अवधारणा को चुनौती दी और उसके स्थान पर यह प्रतिपादित किया कि, ब्रह्म में ही सभी पदार्थ-विशेष, गुण एवं संभावनाएँ अन्तर्निहित रहतीं हैं| 'सामान्य' (सार्वभौम) एवं 'विशेष' (विशिष्ट) दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं; 'सामान्य' वह है जो समष्टिगत दृश्य है, और 'विशेष' उसके अंदर व्याप्त विविधता है| निरपेक्ष और सापेक्ष, इस प्रकार आपस में जुड़े हुए हैं|

विशिष्ट इकाइयां मिथ्या नहीं वरन मूलतः पृथक दिखने के लिए, परम यथार्थ की ही प्रकृति के रूप हैं| हिंदू धर्म में ऐसी प्रवृति रही है जो विशिष्टताओं-युक्त अभिन्न-एकताओं से संपन्न 'सामान्य' समष्टि की व्यापक संकल्पना करता है| वेदांत आधारित धार्मिक सम्प्रदायों के दर्शन का यही दृष्टिकोण, पश्चिमी दर्शनशास्त्र में प्रचलित सीधी-सपाट एकता, जो सब प्रकार की विशिष्टताओं से विहीन है एवं ऐसी दिखाई भी पड़ती है, की संकल्पनाओं से बिलकुल भिन्न है|

रामानुज के उतराधिकारी, श्री जीव गोस्वामी, ने विशिष्टाद्वैत दर्शन को परिष्कृत कर, उसे शंकर के अद्वैत दर्शन से जोड़ कर एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया| उन्होंने कहा कि शाश्वत यथार्थ एक साथ दोनों है, व्यष्टिगत एवं समष्टिगत, जबकि तात्विक रूप से आकार (रूप) और गुण (नाम) पृथक नहीं हैं, बल्कि ब्रह्म की मूल प्रकृति ही हैं| शाश्वत यथार्थ बहुविध संभावनाओं से संपन्न है, जिनका उससे कोई पृथक अस्तित्व है ही नहीं| श्री जीव आगे चल कर, साधक की पात्रता के अनुसार, परम यथार्थ की पृथक तीन प्रकार की विभूतियों की अनुभूति का उल्लेख करते हैं: (१) भाव वाचक, समष्टिगत, निराकार (ब्रह्म); (२) व्यक्ति वाचक, व्यष्टिगत (भगवान) एवं (३) हृदय में विराजमान (परमात्मन)| भगवान और परमात्मन में कोई शुद्ध या मौलिक अंतर नहीं है - परमात्मन, भगवान की आंशिक अभिव्यक्ति ही है| श्री जीव स्पष्ट करते हैं कि भगवान, ब्रह्म एवं उसकी सभी विशेषताओं, गुणों एवं तत्वों के जोड़ के बराबर हैं, तथा भगवान की विभूतियाँ एवं अन्य विशेषताएँ, मानव बुद्धि के द्वारा 'अचिन्त्य' हैं और वे ऐसे प्रभाव प्रकट करते हैं या कर सकते हैं जो सामान्यतः, असंभव माने जाते हैं| ये विभूतियाँ न तो भगवान से भिन्न हैं और न ही भगवान जैसी ही हैं| यह विचित्र सम्बन्ध जो एक साथ वैसा ही है और भिन्न भी है, 'भेद-अभेद', एक अद्वितीय सिद्धांत है जो भारतीय संगीत, नृत्य, मूर्तिकला, देवोपासना, कर्म-कांड, व्यवहार में शील, नीति-शास्त्र, संप्रदाय आदि में घुला हुआ भी है| भगवान का कोई स्थूल रूप या आकार नहीं है, लेकिन उनको सत्, चित एवं आनंद के पृथक एवं सम्मिलित रूप में अनुभव किया जा सकता है| भगवान का नाम और भगवान एक ही हैं, और उसमें वही शक्ति है जो भगवान में है, और इसलिए 'नाम-जप' एवं 'नाम-संकीर्तन' इस जगत को परम व्योम से जोड़ते हैं| श्री कृष्ण, संक्षेप में भौतिक इच्छाओं वाले लोगों की स्थिति के विषय में भगवद्गीता के अध्याय ७ के श्लोक संख्या २० से २२ में वर्णन करते हैं|

अद्वैत एवं वैष्णव सम्प्रदायों के बीच भिन्नताओं को इस प्रकार संक्षेप में व्यक्त किया जा सकता है: अद्वैत में पृथकत्व पूरी तरह मिट जाता है, जबकि रामानुज एवं श्री जीव की व्यवस्था में पृथकत्व तो है, लेकिन वह भगवान से अभिन्न है और भगवान का ही एक रूप है| अद्वैत के मानने वाले मानते हैं कि जीव (व्यक्ति) एवं परमात्मन एक ही हैं, जबकि वैष्णव मानते हैं कि इन दोनों का स्पष्ट सनातन अस्तित्व है (भगवद्गीता १५.७)| फिर भी, इन दोनों सम्प्रदायों में पृथक इकाइयों के आधार में एक अभिन्न एकता विद्यमान है|

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित निवर्तन - विवर्तन की प्रक्रियाएँ : विवेकानंद के अनुसार, निवर्तन (involution) ही विवर्तन (evolution) का आधार है, जिन्होंने पहली बार उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में इसकी ओर पश्चिम का एवं श्री अरविन्द का ध्यान आकर्षित किया था| इस प्रक्रिया से वह एकमेव सत् विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है| इसमें, वह अभिन्न रूप से समान शाश्वत यथार्थ, अपनी अप्रकट संभाव्यताओं को नाना प्रकार की विभूतियों एवं रूपों में प्रकट करने हेतु प्रसारित करता है, जिनमें प्रत्येक विभूति भी वही शाश्वत यथार्थ हैं, क्यूंकि प्रत्येक भाग परोक्ष रूप से वही पूर्ण यथार्थ भी है| वह एकमेव सत् अभिन्न रूप से समान

एकता तो लिए हुए है ही और साथ साथ, स्वयं की समस्त पृथक पृथक विभूतियां भी है, और फिर भी वह एकमेव सत् अपनी अभिन्न एकता को (बिना अभिव्यक्ति के) ढके हुए भी रहता है, जिसके कारण उसके विविध रूप, उस परोक्ष एकता से बेखबर रहते हैं, जिसकी वे विशिष्ट अभिव्यक्ति होते हैं| अतः, हर पृथक भाग यह कतई नहीं जान पाता कि वह उस एकमेव सत् की एक अभिव्यक्ति मात्र है| दूसरी तरह से कहैं तो, हर पृथक भाग को यह नहीं पता होता है कि, वह स्वतंत्र इकाई नहीं हैं और यह भी कि, समष्टि के ही वे विविध रूप हैं|

पूरा ब्रह्माण्ड ही उस एकमेव सत् की अभिव्यक्ति है, 'उससे अनवरत निकलते रह कर, सब उसी के नाना रूप हैं'| वह एकमेव, विकासमान, आत्मचेतन समष्टि, और कुछ नहीं, भगवान की ही सर्वव्यापकता है| निवर्तन की यह अवधारणा, शाश्वत यथार्थ की प्रकृति की अवधारणा से अभिन्न है और विश्व दर्शन को भारत की एक प्रमुख देन है| अतः, यह हिंदुओं के लिए यह मानना स्वाभाविक है कि, जगत का सञ्चालन उसके ऋतम्-धर्म से होता रहता है|

अभिन्न एकता के प्रति बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण : (लेखक का, इस सन्दर्भ में अभिन्न एकता को दर्शाने हेतु आग्रह, बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय पर है) वेदांत के मुख्य सिद्धांतों में से एक, जो यह बताता है कि सामान्य मानस को दृश्य जगत की जिस प्रकार पृथक इकाइयों के रूप में अनुभुतियाँ होतीं हैं, वह अंततः यथार्थ नहीं हैं, की पुष्टि बौद्ध धर्म करता है| लेकिन वेदांत परंपरा को वह एक मौलिक चुनौती देता है, कि ब्रह्म की शाश्वत यथार्थ के रूप में अवधारणा भी मिथ्या है| बौद्ध सिद्धांत यह है कि, कोई 'तथ्य' यथार्थ नहीं है जिसका अस्तित्व हो, और वह सब पदार्थों के शाश्वत यथार्थ अस्तित्व को पूर्णतया नकारता है| यह अवधारणा कि वस्तुओं में कोई स्व-अस्तित्व होता ही नहीं, 'शून्यता' (खालीपन) कहलाता है जो दो दावों के आधार पर व्यक्त होती है: (१) सब वस्तुएँ क्षणिक घटनाओं (संस्कृत में क्षण) के प्रवाह हैं, और (२) किसी भी क्षण का कोई भी पृथक अस्तित्व नहीं है, अर्थात, हर क्षण के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा क्षण...सतत रूप से प्रवाहित होता रहता है| यह दावा कि हर प्रवहमान क्षणिक 'अस्तित्व' सब एक दूसरे के कारण हैं - (बिना किसी प्रथम या आदि या अकारण कारण के) 'प्रतीत्य समुत्पाद' के नाम से जाना जाता है| चूँकि क्षणिक घटनाएँ अस्तित्व में रह नहीं पातीं हैं, इसलिए हर क्षण भिन्न इकाई है|

इंद्रजाल की उपमा के अनुरूप भूतकाल, वर्तमान एवं भविष्य के सभी क्षण एक दूसरे के कारण होने से एक दूसरे पर कारणपूर्वक निर्भर हैं| इसका अर्थ यह है कि हर क्षण बाकी सब क्षणों के कारण है, और इसलिए कोई भी क्षण पृथक रूप से अस्तित्व में नहीं है| पृथक वस्तुएँ अथवा प्रक्रियाएँ संभव नहीं हैं - इसलिए पृथक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है| हर व्यक्ति का हर अनुभव, पूरे ब्रह्माण्ड से कारण के साथ जुड़ा हुआ है, और इस प्रकार सब जीव आपस में एक दूसरे से जुडे हुए हैं|

प्रतीत्य-समुत्पाद दो प्रतिरूपों में होता है: अनंत रेखीय प्रतिक्रियाएँ और चक्राकार परस्पर-निर्भर प्रतिक्रियाएँ| दोनों प्रतिरूपों में हर वस्तु हर अन्य वस्तु पर निर्भर रहती है| बौद्ध धर्म में यही शाश्वत यथार्थ की अभिव्यक्ति है, जो अनंत क्षणिक घटनाओं का ऐसा नृत्य है| जिसे हम सामान्य भाषा में 'जगत' कहते हैं और जिसे दार्शनिक 'दृग्विषय सम्बन्धी अस्तित्व -phenomenal existence' कहते हैं, उसे बौद्ध धर्म में 'संसार' के नाम से जाना जाता है, जो मात्र इन घटनाओं की सतत धाराएँ हैं जिन में किसी भी घटना का

पृथक अस्तित्व नहीं है| कारण-कार्य का यह कर्म-सिद्धांत, किसी श्रृष्टि-रचयिता भगवान अथवा किसी अन्य इकाई, जो इस आपस की परस्पर-निर्भरता के बृहद जाल से बाहर हो, का बिना सहारा लिए चलता रहता है| शाश्वत यथार्थ स्वयं भी रिक्त है (अर्थात - बिना स्व-अस्तित्व के है)| इस परस्पर-निभरता के यथार्थ में सभी मानसिक प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित हैं| शांत एवं स्थिर मानस द्वारा अंतर्दृष्टि के सतत अभ्यास - 'विपासना' के माध्यम से बौद्ध योगी मानसिक तत्वों के प्रवाह एवं उनकी अंतःप्रक्रियाओं का साक्षी हो जाता है| इस प्रकार स्पष्ट समझदारी – 'सम्प्रज्ञा' के माध्यम से बौद्ध योगी द्वारा सभी आतंरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं का तटस्थ निष्काम निरीक्षण एवं आत्मविश्लेषण संभव हो जाता है| 'रिक्तता' एवं 'प्रतीत्य-समुत्पाद की अनुभूति' को, बुद्ध धर्म में समकक्ष माना जाता है|

बुद्ध और उनके बाद नागार्जुन, जिन्हें बुद्ध के बाद का सर्वश्रेष्ट दार्शनिक माना जाता है, का उद्देश्य यह नहीं है कि, रिक्तता की अवधारणा के किसी पृथक अस्तित्व को स्थापित किया जाय; नहीं तो वह एक 'वस्तु' बन जायेगी जिसका स्वयं का स्व-अस्तित्व हो जायेगा| इसलिए, उनका आग्रह है कि 'रिक्तता रिक्त है', जिसका अर्थ है कि रिक्तता कोई ऐसी इकाई नहीं है, जिसे दृश्य संसार से कहीं ऊपर एक प्रकार के परा-लोक के रूप में अनिवार्य माना जाने लग जाय; यह केवल दृग्विषय की शाश्वत प्रकृति भर है| शाश्वत सत्य परस्पर-निर्भरता के इस जाल के प्रयोजन से बाहर, एक और यथार्थ नहीं है वरन पदार्थों एवं तत्वों के विषय में सोचने की स्थापित प्रचलित आदत से हटकर, यह सोचने का एक सतत प्रवहमान तरीका है, कि ऐसी किसी भी प्रकार की इकाइयां, स्वयं से अस्तित्व में हैं ही नहीं| बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि सब उपदेश 'निर्वाण हेतु हैं; उन उपदेशों को पकड़कर बैठने हेतु नहीं' और उन्हें परम तत्वों के रूप में नहीं सोचा जाना चाहिए| उनका प्रसिद्ध वक्तव्य है: 'धर्मों को भी छोड़ देना चाहिए, जो धर्म नहीं हैं, उनका तो क्या कहना'| दुख मानव की वह परिस्थिति है, जिसमें व्यक्ति संसार को और स्वयं को स्व-अस्तित्व रखने वाली इकाइयों के रूप में देखता है| यह संज्ञानात्मक त्रुटि ही, 'वस्तुओं' के प्रति हमारे अंदर आसक्ति और उन्हें प्राप्त करने की इच्छा पैदा करते रहने के लिए जिम्मेदार है| इन इच्छाओं को तो संतुष्ट करना असंभव है, क्यूंकि जिन वस्तुओं को कोई, संतुष्टि के लिए कस कर पकड़ता है, वे अंततः अस्तित्व में हैं ही नहीं - इसलिए उनको, अर्थात इच्छाओं को संतुष्ट करने के सब प्रयास व्यर्थ चले जाते हैं|

दो सत्य एवं सन्दर्भः हर दृग्विषय (phenomenon) में किसी प्रकार की विशिष्टता के न होने का सारगर्भित वर्णन है 'तथाता', जो बिना किसी वैचारिक विवरण का शाश्वत यथार्थ है| इसलिए, सापेक्ष अस्तित्व को सामान्य रूप से व्यवहार में समझ सकने के लिए, दृग्विषयों को दो सत्यों, एक सापेक्ष और दूसरा शाश्वत के सन्दर्भ में समझे जाने की आवश्यकता होती है| "धर्म की स्थापना, सांसारिक चलन तथा शाश्वत परम सत्य, इन दोनों पर आधारित है"|

मध्य मार्ग : परिवर्तन एवं कर्म, रिक्तता के होने से ही संभव हैं| नागार्जुन कहते हैं - 'अगर तत्व है, तो पूरे विश्व में कुछ उदय नहीं होगा, कुछ नहीं ठहरेगा, वह जड़ हो जायेगा| पूरा दृग्विषयक संसार अपरिवर्तनीय हो जायेगा'| सब प्रकार की कृत्रिम एकताओं पर नागार्जुन का यह निश्चयात्मक रूप से घातक प्रहार है, क्यूंकि कृत्रिम एकताएँ पहले पृथक तत्वों से आरंभ होतीं हैं और फिर उनमें एकता की खोज आरंभ होती है| नागार्जुन स्पष्ट करते हैं कि 'जो कुछ भी अन्य इकाइयों पर निर्भर रहने से उत्पन्न होता है, उसे हम रिक्तता के रूप में समझाते हैं| वह नाम मात्र का अस्तित्व है और वही, वास्तव में मध्य मार्ग है'| वे संक्षेप में

बताते हैं: 'यह कहना कि "यह है" उसे स्थायित्व प्रदान करने हेतु पकड़ना है| यह कहना कि "यह नहीं है" शून्यवाद की अवधारणा को अपनाने जैसा है| इसलिए, कोई भी ज्ञानी कभी यह नहीं कह सकता है कि - "अस्तित्व है" अथवा "अस्तित्व नहीं है"|

बुद्ध ने अपने पहले उपदेश में एक ओ़र पूर्ण रूप से भोग विलास में रत रहने और दूसरी ओ़र साधना के नाम पर, आत्म-प्रताड़ना के बीच इस नए मध्य मार्ग के नैतिक तात्पर्यों पर प्रकाश डाला था| वैचारिक एक ध्रुव, जो स्थायित्व के दृष्टिकोण की अभिपुष्टि करता है और दूसरा जो शून्यवाद के नकारात्मक दृष्टिकोण की ओ़र इशारा करता है, दोनों से बचने वाले मध्य मार्ग को अपनाने हेतु, यह व्यावहारिक तर्क है| दुःख की समझ, उसका कारण, और उसके निवारण हेतु यह मध्य मार्ग, कोई सैद्धांतिक निरूपण नहीं है; अर्थात, वह परिवर्तन हेतु एक व्यावहारिक विधि है| मानव चित्त में शाश्वत अस्तित्व रखने वाली इकाइयां एवं शून्यवाद की चरम, दो सीमाएँ गहराई से पैठी हुई हैं| इन सीमाओं की कठिनाइयों से बचने हेतु, सब दृग्विषयों की प्रकृति को, परस्पर निर्भरता से उदित होते हुए देखा जाना चाहिए|

कुशल साधन - सन्दर्भ का व्यावहारिक उपयोग : इन दो सत्यों के होते हुए, एक 'कुशल साधन' नाम की व्यावहारिक विधि है, जिसके द्वारा बौद्ध मार्ग की सन्दर्भ-संवेदी प्रकृति की सूचना मिलती है| बुद्ध कहते हैं कि उनका उपदेश हर व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिभा एवं योग्यता तथा उपदेश के समय, स्थान और परिस्थिति की प्रकृति के अनुरूप होता है| चूँकि सचेतन जीवों की संख्या, जिन्हें निर्वाण पाना है, वह अनंत है, इसलिए उनकी मुक्ति के लिए साधन भी अनंत होने चाहिए, और, चूँकि इन अनंत जीवों की प्रवृतियां, क्षमताएँ, झुकाव एवं भ्रांतियां भी अनंत प्रकार की हैं, बोधि-सत्व को भी हर मामले के लिए उस मामले की आवश्यकताओं के अनुरूप साधन बताना चाहिए| सभी व्यक्तियों की स्व-प्रकृति एवं उनके दृग्विषयों की रिक्तता को ध्यान में रखकर, बोधिसत्व को अपनी बुद्धिमत्ता का प्रयोग करना चाहिए| अगर बोधिसत्व को 'सचेतन जीव' की अवधारणा को विषयाश्रित बनाना पड़ गया (objectify the notion of 'sentient being'), तो इससे उन व्यक्तियों को सहायता पहुँचाने में बाधा खड़ी होगी| शाश्वत सत्य, जो यह है कि जीवों का कोई अस्तित्व नहीं है और अपनी महान करुणा के सापेक्ष सत्य, के मध्य में उन्हें सतत रूप से संतुलन बनाये रखना होगा|

तर्क की चतुष्कोटी : गंभीर दार्शनिक कुशलता तथा क्षुरस्य-धारा जैसी प्रखर बुद्धि से, नागार्जुन ने अभिन्न एकता की समस्या पर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया एवं कैसे भिन्नता और सदृश्यता की गहन समझ विकसित करने में निपुणता प्राप्त की जाए, इसका आधार बताया| प्रतिवाद के नियमों एवं अरस्तुवादी मध्य-निषेध के नियम का भारतीय तर्क-शास्त्र में प्रयोग तो किया जाता रहा है, लेकिन केवल ऐसे समय तथा विधि से जो सन्दर्भ-संवेदी हों, न कि पश्चिमी दर्शन की भांति पूर्व-नियत अथवा निरंकुश विधि से| बुद्ध के अस्मिता के अस्तित्व के न होने के सिद्धांत-विषयक उपदेश के बारे में, नागार्जुन एक चौकाने वाली बात कहते हैं: 'यह कि अस्मिता है, सिखाया गया है| और बुद्ध के द्वारा अस्मिता के अस्तित्व के न होने का सिद्धांत तथा न अस्मिता और न अस्मिता-विहीनता के सिद्धांत को भी सिखाया गया है'| नागार्जुन का आशय है कि आत्मन या अनात्मन की दो चरम सीमाओं से भी गहन एक सत्य है| जो भी हो, विश्लेषण करने के उपरांत, किसी भी यथार्थ इकाई के होने की बात की ओ़र इन विचारों का संकेत नहीं होता है|

अधिकांश प्राचीन भारतीय धार्मिक दर्शनों का तर्क-शास्त्र – किन्तु ऐसा विशेषकर नागार्जुन से जुड़े हुए सम्प्रदायों के मामले में है – किसी भी प्रस्ताव के विषय में चार संभावनाएँ, जिसे चतुष्कोटी नाम से जाना जाता है, माने जाते हैं| ये चार संभावनाएँ हैं: सत्य (और असत्य नहीं); असत्य (और सत्य नहीं); दोनों सत्य और असत्य; और न सत्य, ना ही असत्य| स्वीकार-अस्वीकार करने से पहले, इन चारों संभावनाओं के विश्लेषण की आवश्यकता होती है| सदियों से प्रचलित इस चतुष्कोटी-तर्क व्यवस्था को, बौद्ध धर्म ने और आगे परिष्कृत किया, तथा इस चार संभावनाओं वाले तर्क-शास्त्र को, और व्यवस्थित तथा औपचारिक रूप दिया एवं सन्दर्भ-संवेदी रूप में सभी व्यावहारिक परिस्थितियों में उसका उपयोग भी किया|

हिंदू और बौद्ध धर्मों में आत्मन की अवधारणा एँ : बौद्धों के 'अनात्मन' के सिद्धांत के प्रति हिंदुओं द्वारा स्वाभाविक रूप से कड़ा विरोध किया गया, क्यूंकि वह आत्मा एवं पुरुष (परमात्मा) के गैर-बौद्ध भारतीय दार्शनिक विचार से मूलतः भिन्न था और बौद्ध विचार, सिरे से इस हिंदू दार्शनिक विचार को रद्द करता था| बौद्धों का यह विचार है कि - अंतर्दृष्टि एवं विश्लेषण के द्वारा यह पाया जाता है कि व्यक्ति की अस्मिता एक यौगिक है और वह 'अन्य' पर निर्भरता से उदित होती है, और इसलिए वह एक आकस्मिक तथा क्षणिक घटना भर है| व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अहम को लेकर, लेकिन और भी भारतीय दर्शन प्रणालियां हैं, जो कि उसी अहम के, इसी प्रकार से वास्तविक न होने की बात कहते हैं| पतंजलि घोषित करते हैं कि विचार, जिन्हें वे वृत्तियाँ कहते हैं शांत हो जातीं हैं, जब पुरुष की मूल चेतना में कोई भी व्यक्ति स्वयं के अंतःकरण में स्थिर हो जाता है| यह अवधारणा कि, मन-बुद्धि की मूल प्रकृति निर्मल एवं प्रकाशवान है, लेकिन आकस्मिक विकारों के कारण वह धुंधली हो जाती है, बौद्ध दृष्टिकोण के समान ही है|

जैन धर्म – विविध दृष्टिकोण एवं परस्पर सम्मान : जैन धर्म की वैश्विक दृष्टि अन्य भारतीय धर्मों की परम्पराओं से भिन्न है, यद्यपि वह अभिन्न एकता को स्वीकार करती है, जैसा कि हिंदू एवं बौद्ध धर्मों में भी प्रमुख रूप से है| जैन धर्म के मुख्य सिद्धांतों में से एक है – 'नयस का सिद्धांत', जो यह घोषित करता है कि हर यथार्थ व्यक्तिपरक है, क्यूंकि उसका संज्ञान सापेक्ष दृष्टि से होता है, किन्हीं सुनिश्चित दृष्टिकोणों से नहीं; धताव्य हो कि, एक नय वह सन्दर्भ-बिंदु हैं जिसके सापेक्ष सब निर्णय किये जाते हैं| सात नयस होते हैं, जिन सब का उपयोग वस्तु-विशेष के गुणों को परखने हेतु किया जाना होता है, जिन से 'अनेकांत-वाद' का सिद्धांत स्पष्ट होता है, अर्थात, इस विधि से कई दृष्टिकोणों से निर्णयों का निर्धारण किया जाना होता है| इन में से प्रत्येक दृष्टिकोण का निर्धारण, व्यक्ति-विशेष के सन्दर्भ तथा पृष्ठभूमि के आधार पर होता है| इसलिए, सब जानकारियां केवल एक संभाव्यता है ('स्याद-वाद'), अथवा आंशिक है, यह जैन धर्म का एक और प्रमुख सिद्धांत है| इसलिए, शाश्वत यथार्थ को समझना केवल एक जीवन-मुक्त आत्मा के लिए ही संभव है, जिसे सब संभावनाओं को एक साथ समझने की क्षमता प्राप्त हो चुकी हो| जैन तर्क-शास्त्र यह मानता है कि किसी एक वस्तु के विषय में एक ही अर्थ में परस्पर विरोधी वक्तव्य, उसी स्थान एवं समय में अस्वीकार्य होते हैं|

इस प्रकार जैन तर्क-शास्त्र, बौद्ध माध्यमिक तर्क-शास्त्र, एवं विभिन्न हिंदू व्यस्थाएँ, सभी सन्दर्भ के प्रति आग्रह रखते हैं, जिसके सापेक्ष सच्चाइयों को बिना संशय के जाना जा सके| ये सभी अरस्तु-वादी मध्य के निषेध-विषयक तर्क और नियम तथा बाइबिल-आधारित विशिष्टता को सिरे से अस्वीकार करते हैं, जब भी इनको अंतिम एवं शाश्वत सच्चाइयों के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है|

परिशिष्ट ख

धार्मिक एवं इब्राहिमी परम्पराओं की पद्धतियों का प्रणालीय ढांचा

भारतीय धर्म की तत्वमीमांसा को एक ऐसी बृहद-संरचना माना जा सकता है, जो समान सिद्धांतों, प्रतीकों एवं विधियों का अनुसरण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों से संगती रखता है, जो सभी साधना के माध्यम से चेतना के उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त करने हेतु, अभिकल्पित हुईं हैं| पिछले दो दशकों के दौरान लेखक द्वारा इस 'धर्म की संरचना' की परिभाषा निर्धारित करने हेतु की गई खोज का परिणाम यह पुस्तक है, जिसमें उनका प्रयास यह रहा है कि एक ओ़र इस 'धर्म' के लचीलेपन एवं उसमें अंतर्निहित अनेकता के प्रति न्याय हो सके, और दूसरी ओ़र साथ ही, उसकी विशिष्टता को नकारने वाली सदृश्यता के दृष्टिकोण से भी परहेज़ हो सके|

हिंदू 'सम्प्रदाय', अथवा एक अकेला गुरु, व्यवस्थाओं के संयोजक हैं, जो किसी भी साधक के आध्यात्मिक जीवन की पूरी व्यवस्था के निर्माण हेतु, उसके विभिन्न अवयवों का चयन करते हैं| वह दीक्षा एवं प्रशिक्षण के माध्यम से उस व्यवस्था को स्थापित कर, सतत रूप से उसके भावी सञ्चालन का प्रबंध भी करते हैं| कई सम्प्रदाय, सौदागरों के चिन्ह लिए हुए जैसे होते हैं, जिनके विशिष्ट प्रतीक, कपड़े पहिनने के तरीके, आदि होते हैं| इस नमूने का उदाहरण लेकर, धर्म को इन रूपों में देखा जा सकता है - (क) व्यक्ति की आध्यात्मिक खोज और उसके सांसारिक जीवन-निर्वाह हेतु, एक खुली मार्गदर्शक संरचना; (ख) व्यक्ति-विशेष की रूचि के अनुरूप ऐसी संरचना के निर्माण हेतु, विभिन्न अवयवों की उपलब्धि सुनिश्चित करना; (ग) सम्प्रदायों से उपलब्ध, साधकों को आजीवन समाधान देने वाले, पहले से तय्यार मत-व्यवस्थाओं का समुच्चय; (घ) कुशल साधक द्वारा स्वयं अपनी पूरी व्यवस्था हेतु विकल्प; (च) चालू शोध एवं विकास करने वाले व्यक्तियों अथवा सम्प्रदायों के ऐसे केन्द्रों द्वारा समय समय पर नए विचारों एवं साधना-प्रक्रियाओं की घोषणा करना; (छ) आधुनिक अंतर्जाल (internet) की तरह, धर्म की ऐसी अवधारणा का कोई केन्द्र-बिंदु नहीं, कोई मालिक नहीं, कोई संस्थापक नहीं है, और नए नए उद्गारों में, परिवर्तन एवं संवाद हेतु, द्वार सदा खुले रहते हैं| (ज) इस खुली संरचना का प्रयोग करते हुए प्रतिभाग करने हेतु, किसी को भी इस व्यवस्था के इतिहास की जानकारी आवश्यक नहीं है -यह इतिहास-केंद्रीक व्यवस्था नहीं है|

ऐसी संस्कृति, सतत रूप से अपने अंदर से ही अप्रत्याशित बिंदुओं एवं विधियों से उभरने वाले विविध नवाचारों के माध्यम से, नवीन होती रहती है| उसकी आतंरिक व्यवस्था, लंबे समय तक किसी अलगाव एवं खास विशिष्ट इतिहास के प्रति आग्रह रखने की समस्या से सदा परहेज़ करती रही है और इस प्रकार सदा संतुलित बनी रही है| जटिल समस्याओं के विविध समाधान संभव हो सकने के प्रति, खुलेपन की भावना के कारण ही बहुलतावाद, गहराई से भारतीय धर्म में बैठा हुआ है|

यहूदी-ईसाई मजहबों के पास परिवर्तन लाने हेतु, इसी हद तक मौलिक शोध तथा विकास के लिए इस प्रकार के खुलेपन के वातावरण की एवं विविध विकल्पों में से चुनाव करने की सुविधा नहीं रही है| जैसा कि हमने देखा है, उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं है कि, मानव स्वयं से सत्य के सिद्धांतों को खोजने की क्षमता रखता है; इसलिए, उनकी सनक ऐतिहासिक रूप से विशिष्ट घटनाओं के दावे करने की ही रही है| उनकी बंद-मानसिकता यह जिद्द एवं विश्वास करने को उकसाती रहती है कि, उनके अपने मजहब के अतिरिक्त और कुछ भी वैध नहीं है, जो कि एक प्रकार का एकाधिकार-प्राप्त व्यवहार है, जिसके कारण यहूदी-ईसाई मजहब,

राज्य द्वारा उपलब्ध कराये गए 'राज्य-नियंत्रित व्यवस्था' अधिक प्रतीत होने लगते हैं|

लचीलापन, चुनौतियों का सामना करने से प्राप्त होता है| भारतीय धर्म का साधक कम से कम, तीन विधियों से हर किसी अवसर पर नैतिक एवं उचित निर्णय लेने हेतु, मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकता है - ये तीन विधियाँ इस प्रकार से हैं: शास्त्र से, परंपरा (सम्प्रदाय, अथवा अपने गुरु) से, और स्वयं की साधना के माध्यम से प्राप्त, उच्च चेतना से| ऐसा कोई लिखित नीतिशास्त्र नहीं है जो सीधे ही 'सार्वभौम' हो|

हिंदू-नैतिकता के सन्दर्भ-संवेदी होने को मान्यता देना इसलिए महत्वपूर्ण है (जो एक अति उत्तर-आधुनिक विचार भी है) क्यूंकि, ईसाई धर्मान्तरणरत मिशनरी यह आरोप लगाते रहते हैं कि, हिंदू धर्म नैतिक सापेक्षवाद से ग्रसित है, अर्थात इसमें मन-मर्जी की नैतिकता व्याप्त है| ऐसे आरोप को प्रायः इस प्रकार भोलेपन से व्यक्त किया जाता है कि, सुनने वाला गलती से इसे प्रशंसा भी मान सकता है - लाखों देवता, बहुत सारे शास्त्र, बहुतेरे गुरु, पूरी स्वतंत्रता, आदि| भारतीय धर्म के सन्दर्भ-संवेदी स्वभाव के विषय में अध्याय ४ में विषद उल्लेख किया गया है|